सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिकपत्र

संस्थापक, सम्पादक तथा संरक्षक

योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष [illegible]

अङ्क ६

वार्षिक मूल्य
१० रुपया

एक अंक
१ रुपया

दरस बिन दूखण लागे नैण

दरस बिन दूखण लागे नैण ।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मेरे कबहुँ न पायो चैन ॥
सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपे मीठे-मीठे बैन ।
बिरह कथा कासूँ कहुँ सजनी बह गइ करवत ऐन ॥
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैण ।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख देण ॥

सितम्बर
१९६६

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाई एत्मादपुर जिला आगरा ।

प्रकाशक :—
श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सवाई एत्मादपुर
आगरा

संयुक्त सम्पादक
श्री दिव्य

इस अंक में :—

लेख	लेखक	पृष्ठ
१. गोविन्दं भज मूढमते	....	१
२. नियमों की पवित्र साधना	योगियाजअनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	६
३. श्री सद्गुरुदेव की महिमा —	(श्री रामसुमेर उपाध्याय)	१०
४. भगवान श्रीकृष्ण ने कहा	(श्री मद्भगवद्गीता से)	१५
५. योग-क्षेम	(श्री पं किशोरीलाल झांसी)	१७
६. चेतावनी	(संत गरीब दास)	२०
७. अद्भुत गुरु आज्ञा पालक उपमन्यु	(श्रीहरीशनारायण सिंह)	२१
८. विचार-दर्शन	(श्री म० हरहरनाथठाकुर)	२४
९. योग और कर्म	(श्री सूर्यप्रसाद उपाध्याय)	२५
१०. सत्यम्-शिवम्- सुन्दरम्	(श्री वनवासी)	२८
११. हंसोपनिषद् स्वामी चरणदास कृत हिन्दी पद्यानुवाद	(श्री मनोहरलाल शर्मा एम.ए.)	३०
१२. विज्ञान और धर्म	(श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह एम० ए० दर्शनशास्त्र)	४०
१३. गुरु पूर्णिमा महोत्सव		४६
१४. ब्राह्म - मूहूर्त	(श्री धर्मदेव शास्त्री)	४७
१५. कुछ उपदेश और आदेश	(एक संत की दैनन्दिनी से)	४८
१६. अपने आप को देखो	टाइटिल का	३
१७. श्री गुरुदेवजी का कार्यक्रम	""	४

आवश्यक सूचना

पिछले दिनों श्री गुरुदेव जी का स्वास्थ्य कुछ खराब रहा। किन्तु इतनी अधिक चिन्ता की कोई बात नहीं थी जितनी वादपरम्परा से अशान्तिजनक रूप में प्रसारित हो गई थी। गुरुदेव जी साधारणतया ही अस्वस्थ थे। अब वे पूर्ण रूपेण सब प्रकार से स्वस्थ है।

ॐ

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

वर्ष २
अङ्क ९

"ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म ध्रुव स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदयन् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग':॥

सितम्बर
सन् १९६९

गोविन्दं भज मूढ़मते

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं
गोविन्दं भज मूढमते ?

अर्थ:—बार-बार जन्म हुआ और बार-बार मरण हुआ, बार-बार माता के गर्भ में शयन करना पड़ा किन्तु इस दुस्तर (कठिनाई से पार किये जानेवाले) संसार में आकर कभी यह भी नहीं कहा कि हे मुरारे! इस जन्म-मरण के दुःख से मेरी रक्षा करो। अतः हे मूढ़! अब गोविन्द का भजन कर ॥

हमारा विशेष लेख —

नियमों की पवित्र साधना

(योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर —
प्रणिधानानि नियमाः ॥

कह करके भगवान पतंजलि देवजी ने नियमों का वर्णन किया उनमें से पहिला नियम शौच है।

शौच

शौच का विषय लम्बा है। भगवान पतंजलिदेव जी ने तो:—

सत्वं पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्

कह करके बुद्धि और पुरुष के शुद्ध साम्य को ही कैवल्य कहा अर्थात् बुद्धि सतोगुण, रजोगुण तमोगुण के मलों को छोड़ कर पूर्ण पवित्र हो जाती है, तो पुरुष साक्षात्कार हो जाया करता है। यह शुद्धि की पराकाष्ठा है। विवेकख्याति पर्यन्त मनुष्य पूर्ण शुद्धि का ही प्रयत्न करता रहता है। किन्तु फिर भी शुद्धि दो प्रकार की मानी गई है। जैसे योगी याज्ञवल्क्य के शब्दों में:—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं,
बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलोभ्यां स्मृतं बाह्यं मनः
शुद्धि स्तथान्तरम् ॥

अर्थात् शौच बाह्य और अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्य शौच मिट्टी जल आदि के द्वारा किया जाता है और दूसरा मन की शुद्धि से होता है। बाह्य शौच के भी बाह्याभ्यन्तर रूप से भी दो भेद माने जाते हैं। जैसा बाह्य शौच में ठीक समय पर मल त्याग, दन्तधावन, हाथ, कान, नाक, मुँह नेत्रादि सब इन्द्रियों की बाह्य शुद्धि पवित्र जल आदि से शरीर स्नान करना व अभ्यन्तर शौच में शरीर के भीतर के सब अवयवों की षट् कर्मों के द्वारा शुद्धि करना जैसे नासिका से सूत्र नेति करने पर मस्तिष्क की शुद्धि और धौति कर्म के द्वारा अग्नि आशय, पक्वाशय आदि की शुद्धि, बस्ती, कर्म के द्वारा मलाशय की शुद्धि व बज्रोली के द्वारा मूत्राशय की पूर्ण शुद्धि होती है। यह सब बाह्य शौच का ही विस्तार है। मृज्जलादि के द्वारा बाह्य शरीर हाथ पैर आदि की पूर्णशुद्धि की जा सकती है। किन्तु शरीर के भीतर के अवयवों के आशयों की शुद्धि के लिए षट्कर्मों का करना आवश्यक बन जाता है। षटकर्मों में नेति, धौति, न्योली, बस्ती कपाल भाती व त्राटक माने गये हैं। ये शरीर के भीतरी देश

की शुद्धि के लिए परमावश्यक है। इसीलिये योगी लोग प्राणायाम आदि उत्तम क्रियाओं को आरम्भ करने से पहिले षटकर्मों के द्वारा शरीर की बाह्याभ्यन्तर की शुद्धि करके प्राणायाम करने का अधिकार प्राप्त कर लेते है। ये सब बाह्य शुद्धि है। इनके अतिरिक्त अभ्यन्तर शौच में अनेक प्रकार के उपायों का वर्णन है। उनमें योगाङ्गों का अनुष्ठान करना परमावश्यक है। :—

योगाङ्ग नुष्ठानादशुद्धिक्षये,
ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः

अर्थात् विवेक ख्याति पर्यन्त योगाङ्गानुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होता रहता है और ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। योगाङ्गों में जपतप स्वाध्याय ईश्वर भक्ति आदि सभी सम्मिलित हैं। भगवान मनु के कथनानुसार :—

अद्भिर्गात्राणिशुध्यति,
मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा,
बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

अर्थात् मृज्जलादि के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। सत्य के द्वारा मन की शुद्धि विद्या और तप के द्वारा आत्मा और ज्ञान के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। इन्हीं सब नियमों को समझ करके बाह्याभ्यन्तर शौच का पूर्ण करता हुआ शौच के पूर्ण फल की प्राप्त कर लेता है। अंग प्रत्यगों तक में भी उसको घृणा होने लग जाती है। और प्राणी के संसर्ग से दूर हो जाता है। भगवान पतंजलि देवजी के शब्दों में :—

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥

अर्थात् शुद्धि की पराकाष्ठा से योगी को अपने अंगों में भी घृणा होने लगती है। ऐसी स्थिति में दूसरों का संग तो हो ही कैसे सकता है। यह बाह्य शुद्धि की पराकाष्ठा है किन्तु इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यो आभ्यान्तर शौच बढ़ता है त्यो-त्यों अन्तःकरण की शुद्धि मन की पवित्रता और एकाग्रता इन्द्रिय जय और आत्म-दर्शन की योग्यता बढ़ती चली जाती है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय
जयात्मदर्शनयोग्यत्वानिच ।

उपरोक्त दोनों प्रकार के बाह्याभ्यान्तर शौच के नियमों को समझ करके यथा विधि पालन करने वाला साधक शुद्धि के फल स्वरूप आत्म दर्शन को पा सकता है। इसके बाद दूसरा नियम सन्तोष है।

सन्तोष

सन्तोष का अर्थ है मन की पूर्ण तुष्टि। सन्तोषी वही कहला सकता है जो दृष्टानुश्रविक विषयों में पूर्ण वितृष्ण है। जिसको इस लोक से ब्रह्म लोक पर्यन्त तक के भोग

विचलित नहीं कर सकते वही पूर्ण सन्तुष्ट कहला सकता है। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार से किये है :—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः
सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहः
तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थात् जिसका मन दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों में आसक्त नहीं होता जिसमें न राग है न भय है और न क्रोध है। जो सर्वत्र स्नेह रहित शुभ या अशुभ कैसी भी स्थिति को पाकर के न सुखी होता है और न दुखी होता है उन्हीं की बुद्धि स्थिर है। ऐसा मुनि जिसने इतने ऊँचे सन्तोष को प्राप्त कर लिया है कृतार्थ हो जाता है। उसको कोई भी विचलित नहीं कर सकता। भगवान श्री पतंञ्जलिजी ने संतोष का फल अनुत्तम सुखलाभ लिखा है। अनुत्तम सुखी वही है जिससे बढ़कर और कुछ नहीं हो सकता। जिसके विषय में भगवान श्रीकृष्ण जी ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है :—

सुखमात्यन्तिकंयत्तद् :
बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्तियत्र न चैवायं
स्थितश्चलति तत्त्वतः
यं लब्ध्वा चापरं लाभं
मन्यते नाधिकं ततः
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन
गुरुणापिविचाल्यते ॥ २१-२२/६

अर्थात् वह सुख अतीन्द्रिय व बुद्धिग्राही हैं जिसमें स्थिति होने पर मनुष्य को बड़े से बड़ा दुखः भी विचलित नहीं कर सकता और जिसको प्राप्त कर प्राणी अपने आपको कृतकृत्य समझता है और उससे बढ़कर कुछ नहीं समझता। कृतकृत्य हुआ परम सुख को अनुभव करता हुआ ऐसा प्राणी गुण विलक्षण हो जाता हैं और अपने आपको कृतार्थ जानकर के परम - ब्रह्म में लीन हुआ कह उठता है :—

मातर्मेदिनि तात मारुत
सखेतेजेसुबन्धो जलः
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव
भवतामन्त्य प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्संग वशोपजात
सुकृतोद्रे कस्फुर निर्मल:
ज्ञानापास्त समस्त मोह
महिमा लीये परे ब्रह्मणि ॥

हे माता पृथ्वी, तात वायु, सखे तेज, हे मित्र जल, हे भाई आकाश मैं आप सब को

प्रणाम करता हूं। क्योंकि आप सब के संग से पुण्य के उदय होने से मोह की महिमा हट गई और अब मैं परम ब्रह्म में लीन हो रहा हूँ।

तपः—

भगवान पतंजलिदेवजी ने

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः

कह करके क्रिया-योग का वर्णन किया। इस सूत्र का भाष्य भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं: —

नातपस्विनो योगः सिद्धयति, अनादि-कर्मक्लेशवासना चित्रा प्रत्युपस्थित विषय जाला। चाशुद्धिर्नान्तरेण तपःसम्भेदमापद्यत इति तपस अउपादानं? तच्च चित्तप्रसादनमबाध-मानमनेन सेव्यमिति मन्यते॥

अर्थात् तप के बिना योग-सिद्ध नहीं होता। अनादि काल से कर्म-क्लेश वासना आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ विषय-जाल अन्तःकरण की शुद्धि के बिना नहीं कटता इसीलिए तप आवश्यक है, और वह तप जिसमें चित्त विक्षेप को प्राप्त नहीं होता।

तप की और व्याख्या करते हुए कहा गया है: —

द्वन्द्व सहनं द्वन्दश्च -- जिघत्सापिपा-से,शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौना-कारमौने च व्रतानि चैव यथा यागं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि।

अर्थात् द्वन्द सहन का नाम तप है। द्वन्द भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, जाड़े का नाम है। इनके अतिरिक्त एक आसन पर बैठकर काष्ठ मौन, आकार मौन व कृच्छ्र चान्द्रायण आदिक व्रत करना भी उत्तम तप माना गया है। काष्ठ मौन वह मौन कहलाता है जिसमें व्रत करने वाला व्यक्ति काष्ठवत् बैठा रहे। किसी प्रकार के इंगितों से भी अपने भाव को प्रगट न करे। आकार मौन वह कहलाता है जिसमें आकार व अपने इंगितों से भीतर की इच्छा को प्रगट करके केवल मात्र जिह्वा पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाता है। काष्ठ मौन व आकार मौन के द्वारा जिह्वा पर पूर्ण नियंत्रण होता है। किसी प्रकार की अशुभ वाणी मुँह से नहीं निकलती और इसी प्रकार दूसरों के द्वारा प्रयुक्त की गई शुभ व अशुभ वाणी शान्त भाव से सहन करने की ताकत बढ़ती है। इसके अतिरिक्त कृच्छ्र चान्द्रायण आदिक व्रत समूह यद्यपि क्लेशों को क्षीण करने के लिये उत्तम है किन्तु उसमें भगवान व्यासदेव जी के शब्दों को याद रखने की आवश्यकता है।

चित्तं प्रसादनमबाधमानमनेना सेव्यमिति।

जिसमें चित्त की प्रसन्नता बनी रहे, कष्टदायी न हो। इसी प्रकार से ये सब व्रतादि करने चाहिये, जिससे वे मन की

एकाग्रता में बाधक न हो। जो लोग इस प्रकार का कठोर घोर तप करते हैं जो आत्मपीड़ा के साथ किया जाता है, उसको भगवान श्रीकृष्ण जी ने तामस तप कहा है। इसलिये उत्तम तप वही है जो श्रद्धा पूर्वक बिना कष्ट के आत्मसाक्षात्कार के लिये व क्लेशों को क्षीण करने के लिये किया जाय। गीता में भगवान श्रीकृष्ण जी ने उत्तम प्रकार शरीर वाणी व मन के तपों का वर्णन किया है—

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ?
ब्रह्मचर्यं अहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्य सत्यं प्रिय हित चयत्
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपोमानसमुच्यते

अर्थात् देव द्विज गुरु व बुद्धिमान लोगों की सेवा करना व शौच व नम्रता धारण करना ब्रह्मचर्य और अहिंसा व्रत का पूर्ण रूप से पालन करना, यह शारीरिक तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता मृदुता मौन धारण करना आत्म- निग्रह और भावों की शुद्धि यह मानस तप कहलाता है। मनुष्य मात्र के लिये ये तीनों तप उपादेय है।

इससे अतिरिक्त मन के राजस तामस भावों को क्षीण करने के लिये ज्ञान दीप्ति के लिये कृच्छ चान्द्रायण आदिक व्रत भी सामर्थ्यानुसार करने चाहिये। किन्तु पवनाभ्यास करने वाले साधक के लिये कुछ चान्द्रयण आदिक व्रतकी आवश्यकता नहीं। उनके लिये प्राणायाम ही परम तप है उनके लिये प्राणायाम के साथ-साथ ब्रह्मचर्य अहिंसा सत्य भाषण आदि ही परम तप है। भगवान पतंजलि देव जी ने तप का फल इस प्रकार कहा है —

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक व एन्द्रिय सिद्धि स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है। कायिक सिद्धि से अणिमा, महिमा आदि व एन्द्रिक सिद्धि से दूर- दर्शन दूरश्रवण आदि की शक्ति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त शरीर के बलाबल व सामर्थ्य को देख करके किये जाने वाले तप के द्वारा सब कुछ साध्य है यथा :—

यद् दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरति क्रमम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपोहि दुरति क्रमम् ॥

अर्थात् तप के द्वारा कोई भी ऐसा काम नहीं जो नहीं किया जा सकता हो। अतः शास्त्र विधि के अनुसार तप बड़ा परम उपादेय है।

स्वाध्याय :—

चौथा नियम स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ करते हुऐ भगवान व्यासदेवजी लिखते हैं।

स्वाध्याय :— प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्ष शास्त्राध्ययनं वा।

प्रणवादि प्रभु के पवित्र नामों का जप करना या मोक्ष शास्त्र गीता आदि उपनिषदों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। प्रणव की महिमा हमारे शास्त्रों में बहुत उत्कृष्टता से भरी हुई है। ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि देवों की उत्पत्ति प्रणव से है :—

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः।
प्रणवात्प्रभवोरुद्रः प्रणवाद्योहि परो भवेत ॥
अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः।
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते ॥

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु शिव तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है। तीनों ही देव अकार में ब्रह्मा, उकार में विष्णु मकार में शिव लीन हो जाते हैं। इसलिये ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक प्रणव ही सर्वत्र प्रकाशित है। प्रणव के जाप से सब प्रकार के विघ्नों की निवृति होती है और प्रत्यक्ष चेतन की प्राप्ति होती है। भगवान पतंजलिदेव ईश्वर का लक्षण लिखने के बाद उसका बोधक नाम प्रणव का ही निदश करते हैं और उसका जप और उसके अर्थ का ध्यान करने की आज्ञा देते हैं —

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

कह करके प्रणव का जाप और अर्थ का ध्यान करने की आज्ञा देते हैं। व इसके आगे के सूत्र में प्रणव जप का फल बतलाते है :—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमो ऽप्यन्तराया भावश्च ।

अर्थात् प्रणव का जाप करने के फल स्वरूप प्रत्येक चेतन की प्राप्ति अर्थात् आत्म-दर्शन होता है व विघ्नों का नाश होता है। सब प्रकार के विघ्नों की निवृति के लिये प्रणव जप की उपनिषदों में स्थान-स्थान पर आज्ञा की है। ?

प्रणवं प्रजपेच्छीर्ष सर्वविघ्नोऽप्रसातये ।

इसी प्रकार से उपनिषदों गीता आदि का पाठ करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है व इष्टदेव की कृपा से मनोकामना पूर्ण होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः

देवा, ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्याय
शीलस्य दर्शनं । गच्छति,
कार्येचास्य वर्त्तन्ते इति ।

अर्थात् देवता लोग ऋषि लोग स्वाध्याय-शील व्यक्ति के सामने जाते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। स्वाध्याय और योग का परस्पर महान सम्बंध है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत
योगात स्वाध्याय मामनेत् ।
स्वाध्याययोगं सम्पत्त्या
परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थात् स्वाध्याय से योग ध्यान को प्राप्त हो व ध्यानावस्था में स्वाध्याय का मनन करे। स्वाध्याय और योग दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश होता है। सच्चे मनसे स्वाध्याय में रत रहने वालों को

सफलता करामलकवत हो जाती है।

ईश्वर प्रणिधान

पांचवा नियम ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ भगवान व्यासदेवजी ने योग सूत्र में लिखते हैं।

ईश्वर प्रणिधानं—
सर्व क्रियाणांपरम गुरावर्पण तत्फलं संन्यासो वा।

अर्थात परम गुरु ईश्वर में सब शुभाशुभ कर्मों का अर्पण करना या उसका कर्म फल त्याग करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। योग सूत्र समाधि पाद में भगवान पतंजलि जी ने :—

ईश्वर प्रणिधानाद्वाः—

कह करके ईश्वर प्रणिधान को समाधि-प्राप्ति का एक खास उपाय बतलाया है। इस सूत्र का अर्थ लिखते हुए भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं।

प्रणिधानाद् =
भक्ति विशेषाद् आवर्जित ईश्वर-स्तमनुगृह्णात्यभिधानमात्रेण।

अर्थात् भक्ति विशेष से अभिमुख हुआ ईश्वर इच्छा मात्र से कृपा करता है। जिससे उसको शीघ्राति शीघ्र समाधि उपलब्ध होती है पूर्ण अनुराग के बिना आत्म - समर्पण नहीं हो सकता।

भक्ति परानुरक्तिरिश्वरेः—

कह करके नारद जी महाराज ने नारद भक्ति सूत्र में ईश्वर में परानुरक्ति को ही भक्ति कहा है। जब तक ईश्वर में पूर्ण अनुराग नहीं होता तब तक जीव भक्त नही कहला सकता। इसी भाव को स्पष्ट करते हुऐ भगवान श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को भगवत गीता के नवें अध्याय में आज्ञा दी है :—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

अर्थात् हे अर्जुन जो तू करता है, जो खाता है जो हवन करता है जो देता है व जो जप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे। ऐसा करने से सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से छूट करके मुक्तात्मा हो करके मुझको प्राप्त हो जायेगा।

जिन्होंने ईश्वर को पूर्ण आत्म - समर्पण किया ऐसे संसार में ऊंचे भक्त आत्मा के उदाहरण है, जिनको ईश्वर कृपा से समाधि लाभ हुई। ध्रुव,प्रहलाद बृज-गोपिकायें सूरदास तुलसीदास, नरसिंह मेहता, मीराबाई आदि इसी विषय के प्रतीक थे जिन्हे ईश्वर कृपा से समाधि प्राप्त हुई।

इस लेख में हमने नियमों का वर्णन किया है। इससे पिछले अंक में हमने यमों का

वर्णन किया है। इनका अच्छी प्रकार से पालन करने वाला मनुष्य किसी भी प्रकार से पतन को प्राप्त नहीं हो सकता। योग-भूमि के प्रत्येक साधक के लिये नियमों का पालन करना अतिआवश्यक है। किन्तु नियमों से प्रथम यमों का पालन करना परमावश्यक है। जो मनुष्य यमों का पालन नहीं करता और नियमों के पालन का प्रयत्न करता रहता है उसका अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य आदि के अभाव से पतन हो सकता है किन्तु जिसने अहिंसा, सत्य व अस्तेय आदि का पूर्ण रूप से पालन किया है और उसके साथ-साथ शौच, सन्तोष आदि नियमों का पालन किया है वह व्यक्ति पूर्णतया अपने लक्ष्य को पा लेता है।

सूक्ति-सरोवर

ज्ञान से और श्रद्धा से, पर इसमें भी विशेषत: भक्ति के सुलभ राज मार्ग से जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके, लोक-संग्रह के निमित्त स्वधर्मानुसार, अपने-अपने कर्म निष्काम बुद्धि से मरण पर्यन्त करते रहना ही प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। इसी में उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है; तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म छोड़ बैठने की अथवा कोई भी दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है। समस्त गीता शास्त्र का यही सार है।

— लोकमान्य तिलक

× × ×

गीता का पाठ, वाचन और मानन कभी पुराना नहीं पड़ता। ज्यों-ज्यों इसका विचार किया जाय और उसके अनुसार आचरण में उतरते-जायें त्यों-त्यों इसकी पुनरावृत्ति से नया-नया बोध मिलता ही जायगा।

मानवता के कल्याणके लिये जगत् का आमूल परिवर्तन अपेक्षित है, क्योंकि आज की व्यवस्था का सारा आधार विषाक्त और जर्जरीभूत हो गया है।

—महात्मा गांधी

× × ×

(पूर्व प्रकाशित से आगे —)

श्री सद्गुरु देव की महिमा

श्री राममुनेर उपाध्याय, कछवा मिर्जापुर

यथा गुरुस्तथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्यान भेदो विद्यतेऽनयोः॥

अर्थात् जो गुरु देव हैं वही ईश्वर है और जो ईश्वर है वही गुरुदेव हैं। इस लिए गुरु को ईश्वर जानकर महान भक्ति से उनका पूजन करना चाहिए। दोनो में कोई भेद नहीं है और जो भेद मानते है उनके प्रति शास्त्र में इस प्रकार का वचन है कि —

'यस्य साक्षात् भगवति, ज्ञान दीप प्रदेगुरौ।
मनुष्य इति दुर्बुद्धिस्तस्मैः सर्वनिरर्थकम्'॥

अर्थात्— ज्ञान रूपी दीपक को प्रकाशित करने वाला गुरु साक्षात् भगवान है, उसमें जिसकी मनुष्य रूप दुर्बुद्धि होती है, उसके किए हुए सब कर्म व्यर्थ हो जाते है। और गुरु देव कैसे है कि कृपासिन्धु, अर्थात् दया के समुद्र हैं यानी जिस तरह समुद्र की थाह नहीं है उसी प्रकार श्री सद्गुरु की कृपा अथाह यानी सीमा रहित है इसके प्रमाण भी असंख्य हैं। काक भुशुण्डी के पूर्व जन्म की कथा रामायण में इस प्रकार से है कि काक भुशुण्ड गरुड़ जी से कहते हैं :- मैं उज्जैन में गया वहाँ एक ब्राह्मण देव कैसे थे कि:-

बिप्र एक बैदिक सिव पूजा।
करइ सदा तिहि काजु न दूजा॥
परम साधु परमारथ बिन्दक।
संभु उपासक नहिं हरि निन्दक॥
तेहि सेवउँ मैं कपट समेता।
द्विज दयाल अति नीति निकेता॥
बाहिज नम्र देखि मोहि साँई।
बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाँई॥
संभुमंत्र मोहि द्विजवर दीन्हा।
सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा॥
जपउँ मंत्र सिव मंदिर जाई।
हृदय दंभ अहमिति अधिकाई॥
सो०— गुरुनित मोहि प्रबोध।
दुखित देखि आचरन मम॥
मोहि उपजइ अतिक्रोध।
दंभिहि नीति कि भावई॥

तिस पर भी वे गुरुदेव कितने दयालु थे कि बारबार नीति सिखलाते थे।

एक बार गुरु लीन्ह बोलाई।
मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥
सिव सेवा कर फल सुतसोई।
अबिरल भगति राम पद होई॥

रामहि भजहिं तात सिव धाता ।
नर पाँवर कै केतिक बाता ॥
जासु चरन अजसिव अनुरागी ।
तासुद्रोह सुखचहसि अभागी ॥
हर कहँ हरि सेवक गुरु कहेऊ ।
सुनि खगनाथ हृदय ममदहेऊ ॥
अधम जाति मैं विद्या पायें ।
भयउ जथा अहि दूध पिआयें ॥

तिस पर भी गुरु देव काक भुशुण्डी के हृदय में कपट का भाव रहते हुए भी दया करके हित की बात कहा करते थे: —

मैं खल हृदय कपट कुटिलाई ।
गुर हित कहइ न मोहि सोहाई ॥
एक बार हर मंदिर ,
जपत रहेउँ सिवनाम ।
गुर आयउ अभिमानते ,
उठि नहि कीन्ह प्रनाम ॥

तिस पर भी गुरु महाराज इतने दयालु थे कि उनके मन में क्रोध लेश मात्र भी नहीं हुआ किन्तु शंकर भगवान गुरु के इस अपमान को नहीं सह सके —:—

सो दयाल नहि कहेउ कछु ,
उर न रोष लवलेस ।
अति अघगुरु अपमानता ,
सहि नहि सके महेस ॥

और शिव भगवान् बोले

मंदिर माझभई न भवानी ।
रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ॥
जद्यपि तवगुर के नहि कोधा ।
अतिकृपालचित सम्यक बोधा ॥
तदपि सापसठ देहउँ तोही ।
नीति विरोध सोहाइ न मोही ॥
जौ नहि दंड करौंखल तोरा ।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ॥
जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं ।
रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहि सरीरा ।
अयुत जन्म भरि पावहि पीरा ॥
बैठि रहेसि अजगर इव पापी ।
सर्प होहि खल मल मति ब्यापी ॥
महाविटप कोटर महुँ जाई ।
रहु अधमाधम अधगति पाई ॥

इस प्रकार से शिव भगवान के श्राप देने पर गुरुदेव इतने दयालु थे कि उन्हें बड़ा दुःख हुआ और बड़े खेद के साथ हाय - हाय करने लगे।

दो०— हा - हा कार कीन्ह गुरु ,
दारुन सुनि शिव साप ।
कंपित मोहि विलोकि अति ,
उर उपजा परिताप ॥

फिर गुरु महाराज इतने कृपालु थे कि शिष्य के दुःख को दूर के लिए स्वयं उपाय किए।

दो० करि दंडवत सप्रेम द्विज ,
सिव सन्मुख कर जोरि ।
विनय करत गद् गद स्वर ,
समुझि घोर गति मोरि ॥

गुरु देव के प्रार्थना करने पर शिव भगवान ने प्रसन्न होकर कहा कि हे द्विजवर ! वर मांग। ब्राह्मण ने कहा हे प्रभो यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो इस दीन को पहले अपने चरणों की भक्ति दीजिए। और कहा कि यह अज्ञानी जीव आपकी माया के वश होकर निरन्तर भूला फिरता है इस पर क्रोध न करें और आप कृपा सागर हैं अतः इसका परम कल्यान ही करिये।

उपरोक्त उदाहरण से पाठकों को समझ लेना चाहिये कि सद्गुरु कितने बड़े दया के के सागर हैं। और हम सब के दादागुरु (प्रभु राम जी) तो इतने दयालु थे कि रास्ता चलते दुखियों पर दया करते हैं जैसे कि रामरती देवी पर कृपा करके तत्काल अपने शक्तिपात द्वारा पूर्ण ध्यानस्त कर योगिनी बना दिया। हम को अपने गुरुदेव को देख कर भी समझना चाहिए कि उन्हें प्राप्त करने में हम लोगों ने क्या परिश्रम किया है अर्थात् कुछ नहीं। तो भी हम लोगों पर कृपा करके मिले हैं और हम लोगों के कल्याणा के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं। अतः गोस्वामी जी ने गुरुदेव के निमित्त जो कृपासिंधु की उपमा दी है वह बिलकुल यथेष्ट और सत्य है।

महामोह तमपुंज, जासु बचन रविकर निकर।

अर्थात् जिनके वचन उत्कृष्ट मोहरूपी घने अंधकार के नाश करने के लिए सूर्य किरणों के समूह हैं। यहां थोड़ा यह भी समझ लेने की आवश्यकता है कि महा मोह तम पुंज क्या है और कैसे इसका निवारण होगा। अज्ञान ही मोह है। इस मोह के निवारण के लिए गोस्वामी जी लिखते कि :-

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

रामायण में अनेक प्रकार के मानस रोग लिखे गए हैं स्थानाभाव से हम थोड़े में लिख रहे हैं। सब रोगों की जड़ मोह ही है मोह की उत्पत्ति किससे होती है और फिर मोह से क्या उत्पन्न होता है इस पर गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः,
सङ्ग स्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः,
कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः,
संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धि नाशो,
बुद्धि नाशात्प्रणश्यति॥

अर्थात्-(अज्ञान से)विषयों के चिन्तन से मनुष्य की विषयों में आसक्ति होती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, (काम की तृप्ति में बाधा होने से उस काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से सम्मोह होता है, सम्मोह से स्मृति-भ्रंश, स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पुरुष का सर्व नाश हो जाता है। अज्ञान से जिस विषय सुख

में मनुष्य पड़े हैं वह विषय सुख कुछ भी नहीं है गोस्वामी जी ने रामायण में लिखा है कि :—

एहि तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदायी ॥

बहुत काल से सेवन किए हुए विषयादि अवश्य जाने वाले हैं उनके वियोगी होने में कुछ भी सन्देह नहीं है, पर फिर भी मनुष्य स्वयं उनका त्याग नहीं करते । जब विषयादि मनुष्य को स्वयं त्याग कर चले जाते हैं तब उसे बहुत दुःख होता है। जो मनुष्य इस विषय में सदा सावधान रहता है कि एक दिन विषय-भोग हमें अवश्य त्याग देंगे (इस लिए इनका सङ्ग नहीं करना चाहिए) वह अनन्त सुख और शान्ति को प्राप्त होता है। गोस्वामी जी भी जीवों को चेतावनी देते हुए कहते हैं :-

मन पछितैं है अवसर बीते ।
अन्तहुँ तोहि तजेंगे पामर,
तू न तजै अबही ते ॥
बुझे न कि काम अगिनि तुलसी कहुँ ।
विषय भोग अरु घीते ॥

इन सब बातों को विचार करके समझा जाय तो यह मालूम होगा कि यह विषय-भोग सुख नहीं है वरन सब दुःखों को दूर करने के लिए गोस्वामी जी कहते हैं कि

सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ नामु जिमि रवि निशिवासा ॥

अर्थात् (भगवान के) नाम से दुःख और दुराशाओं का इस तरह नाश हो जाता है जैसे सूर्य से रात्रि का। अब यहां यह विचरणीय है कि वह कौनसा भगवान का नाम है और किससे प्राप्त होगा । और मुझे किस लिए इसकी आवश्यकता है। बात यह है कि संसार में केवल दुःख ही दुख है इससे तर जाना ही परम सुख (ब्रह्मानन्द) है और यह मनुष्य शरीर भवसागर के पार होने के लिए ही भगवान करुणा करके प्राणियों को देते हैं गोस्वामी जी के मानसरामायण में भगवान रामचन्द्र का वचन इस प्रकार है :—

नरतनु भव बारिधि कहुँ बेरो ।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
करन धार सद्गुरु दृढ़ नावा ।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ॥
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गतिजाइ ॥

अर्थात् इस का सारांश यह है कि यह दुर्लभ मनुष्य शरीर भगवत्कृपा से सुलभ हो गया है। यह मनुष्य शरीर संसार-सागर से पार जाने के योग्य सुदृढ़ नौका सदृश है। इस नौका को ठीक मार्ग में रखने वाला कर्णधार रूप सद्गुरु है और भगवत्कृपा रूपी अनुकूल वायु है इस प्रकार के सब आयोजन प्राप्त होने पर भी जो भवसागर पार नहीं करता वह आत्मघाती है। अथवा

आत्महन की गति को प्राप्त होता है। यह भी समझना आवश्यक है कि आत्महन की क्या गति होती है ?

इन्हें असुरों के (जो) प्रसिद्ध; नाना-प्रकार की योनियाँ एवं नरक रूप लोक हैं; वे सभी; अज्ञान तथा दुःख क्लेशरूप महान अन्धकार से आच्छादित हैं; जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हैं वे मरकर उन्हीं भयङ्कर लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं। उपरोक्त वचनों से हमें साफ साफ ज्ञात हो रहा है कि महामोहरूपी घोर अंधकार (अज्ञान) से प्राप्त दुखों को दूर करने के लिए पहले सद्गुरु प्राप्त करना परम आवश्यक है। क्योंकि बिना सद्गुरु के भवसागर से कोई कदापि नहीं तर सकता। कहा भी गया है कि —

बिनु गुरु भवनिधि तरइ न कोई।
जों बिरंचि संकर सम होई॥

सद्गुरु के ही प्राप्त होने पर जो भगवान का नाम (मंत्र) है वह प्राप्त होगा जिस नाम के बारे में पहले हम लिख चुके हैं।

फिर भी यहाँ बता देना आवश्यक है।

सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलइ नामु जिमि रवि निशि नासा॥

जासु वचन अर्थात् सद्गुरु देव के वचन महामोह रूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य किरणों का समूह हैं।

सम्पूर्ण मंत्रों का मूल यह है कि (सद्गुरु-के) मुख से निकला हुआ वचन ही महामहिरूपी घने अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य किरण का समूह है, क्योंकि भगवान के असंख्यों नाम है जो कि सद्गुरु वचन में भरे है।

हमारी आयु प्रतिदिन देखते-देखते नष्ट हो रही है, जानी बीती जा रही है गए हुए दिन लौटकर नहीं आते, काल जगत को खा रहा है, लक्ष्मी- जल के तरङ्ग की भाँति चञ्चल है और जीवन तो बिजली की चमक के समान अस्थिर है; अतएव हे शरण देने वाले प्रभु ! मुझ शरणागत की तुम अभीसे रक्षा करो। अन्त में गोस्वामी जी का गुरु वन्दना की सोरठा बड़ा भाव पूर्ण है अतः सोरठे का पुनरावृति कर लेख को समाप्त करते हैं।

बंदऊँ गुरु पद कंज
कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम - पुंज
जासु बचन रबिकर -- निकर॥ ॐ

आत्मा मन तथा शरीर से युक्त होने पर सीमित 'मैं' बनता तथा कार्यों का कर्ता बनता है।

— श्री मेहेर बाबा

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा: —

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्वकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है। और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममता रहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको पा लेता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।

नहि बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्ति वाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करें। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भली भाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

हे भारत ? जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूं अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे — युगे॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

श्री भगवान् बोले-जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है, और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले, क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

हे अर्जुन यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववाले का और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। —श्री मद्भगवद्गीता से

योग क्षेम

(श्री पं किशोरी लाल शास्त्री झांसी)

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनंजयः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

सर्व शक्तिमान्, आनन्दकन्द, अनाद्यनन्त परब्रह्म परमात्मा की इस अचिन्त्य 'अतर्क्य सृष्टि को देखकर बड़े-बड़े तार्किक तथा विज्ञानवादी और भक्त लोग उसकी 'अघटन घटना घटीयसीमहामाया' के प्रभाव को समझने में अपने को असमर्थ पाकर नेति-नेति कह-कर अपनी ज्ञानविज्ञान यात्रा को स्थगित कर देते हैं। किंकर्तव्य विमूढ होकर यातो नास्तिक हो जाते हैं या फिर अधीर बालक की तरह करुण-क्रन्दन करते हुए सर्वथा असमर्थ असहाय होकर आत्म समर्पण कर देते हैं और अपनी यथार्थ स्थिति को स्वीकार करते हुए पुकारते हैं: —

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समानहि ।
एवं ज्ञात्वा महादेवि ! यथेच्छसि तथा कुरु ।।

इस प्रकार में आधुनिक तार्किक लोग दो शंकाओं मे अभिभूत होजाते हैं क्या वह पर-ब्रह्म परमात्मा स्त्री है ? जैसी इच्छा हो वैसा करो ? इस प्रकार उन्हीं के ऊपर क्यों न छोड़ा जाय ? ऐसा क्यों न कहा जाय "कि (यथा योग्यं तथा कुरु) जैसा योग्य हो वैसा करो ?

प्रथम शंका को इस कारण से निर्मूल है कि वह लिंग भेद से परे है दूसरे वह सर्व शक्तिमान है इससे वह स्त्री रूप में भी प्रकट हो सकता है जैसा कि उपनिषद् की एक गाथा में स्पष्ट ही वर्णन किया गया है —

एक बार देवासुर संग्राम में देवताओं की विजय होगई तब सब देव परस्पर अपनी अपनी भुजा पुजाने के चक्कर में पड़ गये (यह भी उसकी अकारण करुणा ही थी) इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण सभी अपने अपने बल को ही विजय का प्रधान कारण कहने लगे । तब आकाश में एक विशाल प्रकाश-पुंज प्रकट हो गया जिसे देख कर सब की आंखें चकचौंधी होगई । सब के मन में कुछ घबड़ाहट और भय का संचार हुआ परंतु अतीत विजय के अभि-मान से धैर्य धारण कर परस्पर कहने लगे कि इसको जानना चाहिये यह कौनसा (यक्ष) या प्रभावशाली देव है ? देवराज इन्द्र ने वायु को भेजा । वायुदेव को आया हुआ देखकर यक्ष ने पूछा तुम कौन हो ? तुममें क्या शक्ति है ? वायु देव ने बड़ेगर्वसे कहा मैं प्रकम्पन (आंधी) हूँ . सर्व ब्रह्मांड का उड़ाकर ले जा सकता हूं । तब यक्ष ने उसके सामने एक तृण घास का टुकड़ा रखकर कहा इसे हटाओ । वायु ने अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग किया परन्तु वह तृण तो श्री हनुमान जी के पैर की तरह अचल हो गया हटने वाल कौन कहे वह तृण तो जरा भी न हिला । तब वायुदेव लज्जित होकर लौट आये । फिर इन्द्र ने अग्नि को

भेजा। अग्नि से भी वही प्रश्न किये गये, अग्नि ने भी अखर्वगर्व से कहा कि मैं (पूर्ण ब्रह्माण्ड को भस्म करने वाला) ज्वलन हूं। इनके आगे भी यक्ष ने तृण रख कर जलाने को कहा परन्तु अग्निदेव की असह्य ज्वालाओं के बीच में वह तृण इस प्रकार सुरक्षित रहा जैसे होलिका की चिता में प्रह्लाद। तब तो अग्नि देव भी शर्मिन्दा होकर वापस लौट आये। इस प्रकार सूर्य चन्द्र आदि सभी देवों ने अपने को सर्वथा असमर्थ देखकर उस यक्ष से मानसिक मूक प्रार्थना की। यक्ष ने भी अपने उमा स्वरूप का दर्शन दिया. और सब देवों को समझाया कि आप लोग सृष्टि के कार्य में अपना पूर्ण सहयोग करते रहें और प्रतिष्ठा, गौरव, अभिमान को पास न आने दें क्योंकि आप लोग तो बिजली से चलने वाली जड़ मशीनों (यन्त्रों) के समान हैं यह सब विश्व विधान तो मेरी इच्छाशक्ति (विद्युत्पावर) से ही चल रहा है जिसका स्रोत ('एकोऽहं बहुस्याम्') इस तार (शब्द ब्रह्म) से चालू हुआ है।

ऐसी गाथाओं को जान कर और स्वयं अनुभव करके ही किसी भुक्त भोगी ने जिज्ञासुओं को सावधन करते हुए ठीक ही कहा है –

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं शुद्ध रौरवम्।
अभिमानं सुरापानं,त्रयं त्यक्त्वा सुखीभवेत् ॥

इस गाथा में "हैमवती उमा" शब्द आया है, जिसे देखकर सम्प्रदायवादियों में विशेष विचिकित्सा(संशय) का उदय होता है और उससे शैव लोग अपने को ही सच्चे ब्रह्म के उपासक मानकर अन्य सम्प्रदाय वालों को हेय दृष्टि से देखने लग जाते हैं। परन्तु यह उनका मिथ्याभिमान ही उन्हें लक्ष्य तक पहुंचने में बाधक हो जाता है। क्योंकि दूसरों के प्रति हेय भावना के उस ब्रह्म का ही अपमान होता है। भगवान श्रीकृष्ण जी ने भी इसी के प्रति सावधान करते हुए अर्जुन से श्रीमद् भगवद् गीता के छटवें अध्याय में स्पष्ट ही कहा है :—

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि सच से न प्रणश्यति ॥
सर्व भूत स्थित यो मां भजत्येकत्व मास्थित।
सर्वथा वर्तमानापि, स योगी मयि वर्तते ॥

यहां पर हैमवती शब्द से केवल हिमवान की पुत्री समझना ठीक नहीं है, हैमवती का अर्थ स्वर्ण प्रभावती है, इसी प्रकार उमा का अर्थ भी केवल मैना रानी के कहे हुए उमा शब्द का बोधक नहीं है जिसे कविकुल चूड़ामणि कालिदास ने अपने कुमार संभव काव्य में तपस्या के रोकने के लिए प्रयुक्त किया है –

उमेति माना तपसा निषिद्धा पश्चादुमाख्यां-
सुमुखी जगाम।

यहां पर उमा शब्द में उकार तप और शंकर का बोधक होते हुए भी षष्ठी तत्पुरुष और द्वितीय तत्पुरुष में ही है क्या मा शब्द माङ् माने धातु का है निषेधात्मक मा अव्यय

ही नहीं है, इससे यह उमा शब्द ब्राह्मी शक्ति का ही बोधक है। अतएव इस गाथा को किसी सम्प्रदाय विशेष की समर्थिका ही नहीं कहा जा सकता-

दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म की शक्ति दो पदार्थ नहीं है बल्कि एक ही वस्तु के बोध के लिये लौकिक भाषा में दो प्रकार से कहा जाता है। साथ ही यह भी देखने में आया है कि मातृ शक्ति जितनी करुणामयी, सहनशील और उदार तथा क्षमामयी है उतनी पितृ शक्ति नहीं है इसी से मातृशक्ति के रूप में पुकारने पर शीघ्र ही साधक को सफलता प्राप्त होती है। देखो न प्रलयंकर आशुतोष भगवान् शंकर जी के अवतार श्री आद्य शंकराचार्य जी के प्रशिष्य श्री शंकराचार्य जी ने कैसी अनिर्वचनीय करुण प्रार्थना उस ब्रह्म शक्ति से की है —

कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीम् ।
भवानि त्वत्पाणि, ग्रहण परिपाटी, फलमिदम्।।

आपत्सुमग्नः स्मरणं त्वदीयं
करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि ।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथाः,
क्षुधा तृषार्ता जननीं स्मरन्ति ।।

जगदम्ब विचित्रमत्र किं
परिपूर्ण करुणास्ति चेन्मयि।
अपराध परंपरा कृतं, नहि
माता समुपेक्षते सुतम् ॥

इस प्रकार द्वैत की साधना के द्वारा ही अद्वैत की सिद्धि होती है। सभंव है अद्वैत ब्रह्म विशिष्टाद्वैत हो या द्वैत ही हो। क्योंकि उसके जान लेने पर तो जानने वाला पृथक नहीं रहता (जानत तुम्हहिं-तुम्हहिं होजाई)। जैसे दूध में जल मिलने पर जल की पृथक् सत्ता नहीं रहती। परन्तु भक्तियोग वाले तो द्वैत ही में सुख मानते हैं। क्यों कि द्वैत बिना ब्रह्म सुख की अनुभति किसे होगी। जब अनुभूति नहीं तो क्या पता कि वह सुख स्वरूप है भी या यों ही लोगों ने कल्पना कर रखी है। परन्तु अद्वैतवादी तो उसे मूकास्वाद वत् मानते है, जो कि द्वैत का ही प्रतिपादन है क्योंकि कहा जासके या न कहा सके पर जब स्वाद है तब स्वाद्य और स्वादक दोनों है ही। अतएव इस द्वैता-द्वैत के पचड़े में न पड़ कर हमें तो उसकी सच्चिदानन्दानुभूति की प्राप्ति का प्रयत्न करना ही-चाहिये। यह तभी हो सकता है जब हम आत्म समर्पण में आई हुई दूसरी यथायोग्यं तथा कुरु वाली कुतर्क कल्पना को त्याग कर "यथेच्छसि तथा कुरु" यही प्रार्थना करें। इसी प्रार्थना से ही "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" की सफलता मिल सकती है इस प्रार्थना से ही मां के दयापयोधरामृत का पान कर शाश्वत तृप्ति प्राप्त होती है।

"यथायोग्यं तथा कुरु" कहने में तो अविश्वास की भावना स्पष्ट ही झलकती है जो कभी भी इस जीव को ब्रह्म के सम्मुख नहीं होने देती। प्रत्युत" पीत्वा मोहमयीं प्रमाद

मदिरा मुन्मत्त भूत जगत" वाली श्रेणी में ही गिरा देती है इसीसे योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन से बार-बार स्पष्ट कहते हैं –

सर्व धर्मान् परित्यज्य,
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो,
मोक्षयिष्यामि माशुचः॥
अनन्याश्चिन्त यन्तो मां,
ये जना पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानां,
योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

श्री भगवान के इन वाक्यों में एक, अनन्य और नित्य इन तीन शब्दों से सावधान रहते हुए ही साधक को अपनी साधना करनी चाहिये। तभी वे प्रह्लाद, मीरा, नरसी आदि भक्तों के समान ही आप का भी योगक्षेम वहन करेंगे। सावधान!

चेतावनी

(संत गरीब दास)

इस माटी के महल में, मगन भया क्यों मूढ़।
कर साहब की बंदगी, उस सांई को ढूंढ़।
× × ×
कुटिल बचन कूं छांडि दे, मगन मनो कूं मार।
सतगुरु हेला देत जनि, डूबै काली धार॥
× × ×
नंगा आया जगत में, नंगा ही तू जाय।
बिचकर रखाबी ख्याल है, मन माया भरमाय॥
× × ×
सुरत लगै अरु मन लगै, लगै निरत धुन ध्यान।
चार जुगन की बंदगी, एक पलक परमान॥
× × ×
जार बार तन फूंकिया, होगा हा-हा-कार।
चेत सके तो चेतिये, सतगुरु कहैं पुकार॥

— अद्भुत गुरु-आज्ञापालक उपमन्यु —

(श्री हरीशनारायण सिंह)

सोया हुआ मनुष्य कुछ भी करने में असमर्थ होता है। जब तक उसको जगाया न जाय उससे कोई भी काम नहीं लिया जा सकता। उसी प्रकार यदि मनुष्य अपने चरम लक्ष्य को अथवा अमृतत्व को प्राप्त करना चाहता है तो उसे शक्ति अर्थात् मूलाधार में सोती हुई कुण्डलिनी देवी को जगाना पड़ेगा। गौतमीय और गंधर्व तंत्रों में लिखा है :—

मूलपद्मे कुण्डलिनी, यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावद् किञ्चिन्न सिध्येत,मंत्र यंत्रार्चनादिकम् ।।
जागति यदा सा देवी, बहुभिः पुण्य सञ्चयैः।
तदा प्रसाद मायाति, मंत्र यंत्रार्चनादिकम् ।।

अर्थात् हे प्रभो ! जब तक मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है तब तक मंत्र, यंत्र, अर्चनादि सफल हो ही नहीं सकते। यदि बहुत जन्मों के पुण्य के फलस्वरूप कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो, तब उसके जागने पर उसकी कृपा से मंत्र, यंत्र अर्चनादि सफल होते हैं।

योग-मार्ग की साधना में तो कुण्डलिनी शक्ति के जागरण हुए बिना प्रगति होती ही नहीं है। और कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए श्री सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ता है। 'तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरु पाद समाश्रयेत्, आत्मकल्याण कामी का सर्वोपरि कर्त्तव्य होता है कि श्री गुरुदेव में मनुष्य बुद्धि न रख कर अर्थात् श्री गुरुदेव को ही अपना परमाराध्यमानकर उनकी प्रत्येक आज्ञाओं का निःसंशय होकर पालन करे। इसविषय में हमारे धर्म ग्रन्थों में अनेक कथायें हैं जिनसे कि हमें यह ज्ञात होता है कि केवल गुरु-भक्ति तथा गुरु- आज्ञा पालन के द्वारा ही बिना योग साधन, जप, तथा अन्य साधनों का आश्रय लिये कितने ही महाभाग परम श्रेयस को प्राप्त कर धन्य हो गये हैं। उन्हीं धन्य भाग गुरु भक्तों में से एक, उपमन्यु की कथा भी है। उपन्यु की गुरु-भक्ति से हम सभी को प्रेरणा प्राप्त होती है कि गुरु-आज्ञा के सन्मुख देवताओं की आज्ञा भी कोई महत्व नहीं रखती।

× × ×

आचार्य्य धौम्य नामक एक ऋषि महाराज जनमेजय के समय में हो गये है जिनके तीन प्रख्यात् शिष्य हुए। उनमें एक उपमन्यु थे। एक दिन श्री गुरु ने उपमन्यु को बुलाकर आज्ञा दी कि 'वत्स उपमन्यु ! तुम गौओं की रक्षा करो।' वे दिन भर वन में गायें चराते और सायंकाल आश्रम में लौट आया करते। तथा गुरु देव को साष्टाङ्ग प्रणाम किया करते थे। गुरुदेव ने उपमन्यु को खूब मोटा ताजा देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु ! तुम आजकल भोजन क्या करते हो? जिससे इतने अधिक हृष्ट — पुष्ट हो रहे

हो ?' उपमन्यु ने नम्रता से कहा भगवन् ! मैं भिक्षा माँगकर अपना काम चला लेता हूँ ।, यह सुनकर महर्षि बोले-वत्स ! ब्रह्मचारी को इस प्रकार भिक्षा का अन्न नहीं खाना चाहिए।

भिक्षा माँगकर जो कुछ मिले उसे गुरु के समक्ष प्रस्तुत कर देना चाहिये । उसमें से गुरु यदि कुछ देदें तो उसे ग्रहण करना चाहिए। उपमन्यु ने बहुत अच्छा कहकर महर्षि की आज्ञा स्वीकार कर ली । अब वे भैक्ष्यचर्या (भिक्षा वृत्ति) से जो कुछ प्राप्त होता वह गुरुदेव को अर्पण कर देते। गुरुदेव को शिष्य की श्रद्धा को दृढ़ करना एवं उसका परम कल्याण करना था । अतः वे सब भिक्षा का अन्न रख लेते । उसमें से कुछ भी उपमन्यु को नहीं देते । वह दिनभर गौओं को चराता, उनकी रक्षा में तत्पर रहता और संध्या समय गुरुदेव के घर आकर उनके सम्मुख खड़ा होकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया करता था ।

कुछ दिनों के पश्चात् गुरुदेव ने उपमन्यु को पूर्ववत् हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा — 'बेटा उपमन्यु ! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ग्रहण कर लेता हूँ अब तुम क्या खाते हो ? उपमन्यु ने उत्तर दिया — 'भगवन् ? मैं एक बार की लायी हुई भिक्षा आपको अर्पित करके दुबारा अपने लिए भिक्षा मांग लाता हूं और उसी से शरीर की रक्षा करता हूँ ।

महर्षि ने कहा बेटा ! दुबारा भिक्षा मांगना तो न्याय एवं धर्म के विरुद्ध है । इससे गृहस्थों पर अधिक भार पड़ेगा और दूसरे भिक्षार्थियों को भी संकोच होगा । अब तुम दूसरी बार भिक्षा मांग ने मत जाया करो । उपमन्यु ने तथास्तु कहकर गुरु की आज्ञा मान ली और पहले की भाँति दिनभर गोचारण कर गुरुदेव के आश्रम में जाकर उनको प्रणाम किया करते थे । गुरुदेव ने फिर भी उनको वैसा ही हृष्ट-पुष्ट देखकर कहा-'बेटा उपमन्यु ! मैं तुम्हारी सारी भिक्षा लेलेता हूँ और अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं मांगते फिर भी हृष्ट-पुष्ट दीख रहे हो, अब क्या खाते हो । उपमन्यु ने कहा — 'भगवन ! मैं इन गौओं के दूध से जीवन निर्वाह करता हूं । महर्षि बोले यह तो ठीक नहीं । गायें जिसकी होती हैं उनका दूध भी उसी का होता है । मुझ से पूछे बिना गायों का दूध तुम्हें नहीं पीना चाहिये । उपमन्यु बहुत अच्छा कहकर दूध न पीने की भी प्रतिज्ञा कर गायें चराने चला गया और सायं काल लौट कर श्री गुरु देव को स्वाष्टाङ्ग प्रणाम किया । फिर गुरुदेव ने पहले की तरह उसको हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा बेटा उपमन्यु तुम भिक्षा का अन्न नहीं खाते, दुबारा भिक्षा भी नहीं मांगते और गौओं का दूध भी नहीं पीते त खाते क्या हो ? तुम्हारा शरीर तो उपवास करने वाले जैसा दुर्बल नहीं दिखायी पड़ता । उपमन्यु ने कहा भगवन् ! मैं बछड़ों के मुख से जो फेन गिरता है उसे पीकर अपना काम चलालेता हूँ । यह सुनकर गुरु ने कहा —

बछड़े बहुत दयालु होते हैं। वे स्वयं भूखे रहकर तुम्हारे लिए अधिक फेन गिरा देते होंगे। तुम्हारी यह वृत्ति भी उचित नहीं है। उपमन्यु ने बहुत अच्छा कहकर उसे न पीने की प्रतिज्ञा करली और पूर्ववत् गौओं की रक्षा करने लगा। इस प्रकार गुरु के निषेध करने पर उपमन्यु न तो भिक्षा का अन्न खाता न दुबारा भिक्षा लाता न गौओं का दूध पीता और न बछड़ों के फेन को ही उपयोग में लाता था। वह अब उपवास करने लगा। एक दिन क्षुधा से अतीव पीड़ित होकर उसने आक (मदार) के पत्ते खालिये। क्षार, कटु तिक्त, रूक्ष, विपाक उन आक के पत्तों के खाने से उनकी आँखों की ज्योति नष्ट होगयी और वह अंधा होगया। मार्ग में एक जल रहित कुआँ पड़ा और उपमन्यु उसमें गिर पड़ा।

सूर्यास्त के अनन्तर जब अँधेरा होने पर सब गायें लौट आयीं पर उपमन्यु को घर लौटा न देखकर गुरुजी ने शिष्यों से पूछा-उपमन्यु क्यों नहीं आया? शिष्यों ने कहा-वह तो गो चारण के लिये वन में गया था। तब गुरुदेव ने कहा-मैंने उस भोले बालक का आहार सब प्रकार से बन्द कर दिया। कष्ट सहते-सहते क्रुद्ध होकर वह भाग तो नहीं गया। उसे वे शिष्यों के सहित जंगल में ढूँढ़ने निकले और बार-बार पुकारने लगे — बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो? चले आओ! उपमन्यु ने इस प्रकार गुरु की बात सुनकर उच्च स्वर से उत्तर दिया-'गुरुदेव! मैं कुएँ में गिर-पड़ा हूं। तब गुरु जी ने उससे पूछा — वत्स तुम कुएँ में कैसे गिरगये? उपमन्यु ने उत्तर दिया — प्रभो! क्षुधार्त होकर आक के पत्ते खालिये परिणाम स्वरूप अंधा होकर कुएँ में गिरपड़ा। गुरुदेव समीप आये और सब बातें सुनकर ऋग्वेद के मन्त्रों से उन्होंने अश्विनी-कुमारों की स्तुति करने की आज्ञा दी। श्री गुरु जी की ऐसी आज्ञा पाकर उपमन्यु ने स्वर के साथ ऋगुवेद विहित मंत्रों से देववैद्य अश्विनी कुमार की स्तुति करने लगे। गुरु-भक्त उपमन्यु की स्तुति से प्रसन्न होकर अश्विनी कुमार उनके सामने प्रकट होकर बोले-हम तुम्हारी स्तुति से प्रसन्न होकर तुमको यह पूआ देते हैं, इसे खालो। उनके ऐसा कहने पर उपमन्यु बोला भगवन्! आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुदेव को निवेदन किये बिना इस पूए को कभी नहीं खा सकता।

तब दोनों अश्विनी कुमार बोले— 'वत्स तुम्हारे गुरुदेव ने भी हमारी इसी प्रकार स्तुति की थी। उस समय हमने उन्हें जो पूआ दिया था, उसे उन्होंने अपने गुरु देव को निवेदन किये बिना ही उसी क्षण खालिया था। अश्विनीकुमार की यह बात सुनकर उपमन्यु ने उत्तर दिया —'वे मेरे गुरुदेव हैं' उन्होंने कुछ भी किया हो, पर मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूंगा। आप से विनय पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि श्री गुरु देव को निवेदन किये बिना मैं इस पूए को नहीं खा सकता।'

इस पर अश्विनीकुमारों ने कहा—तुम्हारी इस गुरु-भक्ति से हम बड़े प्रसन्न हुए हैं। तुम्हारी आँखें ठीक हो जायंगी और तुम परम श्रेय को भी प्राप्त कर सकोगे। अश्विनी कुमारों के ऐसा कहने पर उपमन्यु के नेत्र पूर्ववत् ठीक हो गये। उन्होंने गुरुदेव के समीप आकर उन्हें प्रणाम किया तथा सब बातें गुरुजी से निवेदन की। गुरुदेव उस पर बड़े प्रसन्न हुये और बोले— 'अश्विनी कुमारों के कथनानुसार तुम अवश्य कल्याण के भागी होओगे। तुम्हारी बुद्धि में सम्पूर्ण वेद और सभी धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायेंगे।'

विचार-दर्शन

(श्री म० हरहरनाथ ठाकुर)

विचार अच्छी तरह पवित्र बन जायेंगे तो उनका प्रकाश बिजली के समान अँधेरी कोठरी में भी प्रकाश करेगा। विचार की शक्ति सचमुच महान् है।

× × ×

संसारिक विचार शरीर का नाश कर देते हैं; किन्तु भगवान् को समर्पित हुए सब विचार हृदय, शरीर और आत्मा को प्रसन्न बनाते हैं। जिस प्रकार स्वच्छ साबुन से शरीर साफ हो जाता है, उसी प्रकार सद् विचारों से हृदय शुद्ध हो जाता है।

× × ×

इस संसार में हरेक पदार्थ नाशवान् है। जो आज है वह कल न रहेगा; अतएव यदि मनुष्य इस संसार के किसी पदार्थ पर आवश्यकता से अधिक प्रेम करते हैं तो वे बहुत भूल करते हैं।

× × ×

कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसको हम अपना कहकर पुकार सकें। यहाँ तक कि यह नाशवान् शरीर भी ईश्वर का है और जब वे चाहें तब लेसकते हैं। आश्चर्य की बात है कि दूसरे की सम्पत्ति को अपनी समझते हुए जब हम उससे अलग होते हैं तब हम दुखी होते हैं। अतएव चतुर ज्ञानवान् मनुष्य को किसी प्रकार भी दुःख-सुख का चिन्तन न करते हुए केवल कर्म करना चाहिए। उसको किसी मनुष्य के विषय में अधिक चिन्तन न करना चाहिये और न किसी वस्तु से अधिक मोह करना चाहिये, तभी वह सदा के लिये सुखी बन सकता है।

योग और कर्म

(श्री सूर्यप्रसाद उपाध्याय)

'कर्म क्षेत्रं इदं जगत्, ऐसा प्रायः कहा जाता है, अर्थात् यह संसार कर्म क्षेत्र है। मानव मात्र कर्म करने हेतु ही शरीर धारण कर जगत में आता है। 'जगत्' की परिभाषा भी विद्वानों ने बतलाई है – 'गन्तु शीलं इति जगत्' अर्थात् जगत् नाम चलने का द्योतक है। इसी का स्पष्टीकरण महात्मा तुलसीदास जी ने भी अपने राम-चरित मानस में किया है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

इस गमन शीलसंसार में मनुष्य आकर जैसा कर्म करता है वैसा फल भी उसे प्राप्त होता है। यही किया हुआ कर्म जन्मान्तर में प्रारब्ध माना जाता है। जिसे दैवज्ञों ने 'कर्म, की संज्ञा दी है, यथा — जन्म के समय ही ज्योतिषी पण्डित इत्यादि पञ्चाङ्ग देखकर बतला देते है कि यह बालक बड़ा ही भाग्यवान है, आदि-आदि। यही उस शिशु का पूर्व जन्म का किया हुआ कर्म होता है, जो वर्त्तमान में 'प्रारब्ध' कहा जाता है। योगिराज भर्तृहरि ने भी अपने नीति - शतक में लिखा है —

'यत्पूर्व विधिना ललाट पट्ट लिखितं तन्मार्जितु कः क्षमः।' अर्थात् पूर्व जन्म-कृत कर्मों का फल मनुष्य के भाग्य पटल में जो ब्रह्मा ने लिख दिया है उसे कौन मेट सकता है।

इतने पर ही सन्तोष कर मनुष्य को हताश नहीं होना चाहिये। यह प्रारब्ध भी मेटा जा सकता है। प्रश्न उठता है वह कैसे ? उत्तर मिलता है 'योग' द्वारा। पुनः प्रश्न खड़ा होता है योग की प्राप्ति होगी कैसे ? उत्तर मिलता है- सद्गुरु से। सगुरु की प्राप्ति कैसे होगी। जन्म-न्मान्तर के किये गये शुभ कर्मों से। कारण यही है कि बिना अपने शुभ संस्कार रहे सदगुरु की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अब यहां यही कहना पड़ता है कि यदि अपने पूर्व जन्म-कृत शुभ फलों के कारण के कारण सद्गुरु की उपलब्धि हो गयी तो 'गुरोराज्ञा ह्यविचारणीया' बिना कुछ सोचे समझे गुरु मुख के निकले वाक्यों को जनार्दन का वाक्य मानकर उसका पालन करना चाहिए। यदि साधक गुरु द्वारा बतलाये मार्ग पर चलता रहेगा, तो उसे सफलता अवश्य मिलेगी।

यहाँ प्रस्तुत विषय यह है कि 'योग में कर्म का क्या स्थान है :— योग का एक सूत्रहै –

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः

अर्थात् जिन योगियों ने क्लेशों को निर्बीज समाधि द्वारा उखाड़ दिया है, उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासना रहित केवल कर्त्तव्यमात्र रहते हैं इसलिये उनको इनका फल भोग्य नहीं है। जब चित्त में अनेक जन्मों के क्लेशों के संस्कार बने रहते हैं तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं।

कर्म भी चार प्रकार के होते हैं:—

(१) कृष्ण — पापरूप कर्म अर्थात् हिंसा आदि दूसरों को हानि पहुँचाने वाले, स्तेय, व्यभिचार आदि कर्म दुराचारी पुरुषों के होते हैं।

(२) शुक्ल — पुण्य कर्म अहिंसा आदि दूसरों को लाभ पहुंचाने वाले स्वाध्याय, तप, ध्यान धर्मात्माओं के होते हैं।

(३) कृष्ण-शुक्ल — (पाप-पुण्य मिश्रित कर्म) जिसमें किसी को लाभ किसी को हानि हो साधारण मनुष्यों के होते हैं।

(४) अशुक्ल अकृष्ण — न पुण्य न पाप अर्थात् फलों की वासना रहित- निष्काम शुद्ध कर्म।

इनमें से योगियों के कर्म अशुक्ल, अकृष्ण होते हैं, अर्थात् न पुण्य वाले न पाप वाले। पाप कर्म तो वे कभी करते ही नहीं। क्योंकि उनके लिए सर्वदा त्याज्य हैं, इस कारण उनके कर्म अकृष्ण हैं। शुक्ल कर्मों को निष्काम भाव से फलों को त्याग कर करते हैं इस कारण वे अशुक्ल होते हैं। साधारण मनुष्यों की तरह उनको कर्म में प्रवृत्त करने वाले अविद्या आदि क्लेश नहीं होते, बल्कि वे अपने आपको तथा अपने सब कर्मों और फलों को ईश्वर-समर्पण करके केवल उसकी आज्ञा-पालन से अपना कर्त्तव्य समझते हुए करते हैं। इस कारण वे वासना रहित हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलं रिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्म शुद्धये॥
युक्तःकर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः काम कारेरण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गीता ५।१०-११-१२)

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलमें कमल के पत्ते के सदृश पाप में लिप्यमान नहीं होता। निष्काम कर्मयोगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्याग कर अन्तः करण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। निष्काम कर्मयोगी कर्मो के फलो को परमेश्वर को अर्पण करके परमात्मा प्राप्ति रूप शान्ती को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलो में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है।

ऊपर बताये हुए योगियों के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों के तीन प्रकार के कर्मों का फल बताते हैं। उन तीन प्रकार के कर्मों से उनके फल के अनुकूल ही वासनाओं की अभि-

व्यक्ति होती है । योगियों से अतिरिक्त सकामी पुरुष फलों की वासना के कर्म करते हैं। जैसे कर्म होते हैं उनके फलों के अनुकूल गुणों वाली वासनायें होती हैं । उन वासनाओं से फिर वैसे ही कर्म और उनसे फिर उसी प्रकार की वासनायें बनती हैं। वासनायें चित्त में दो प्रकार के संस्कार रूप से होती हैं। एक स्मृति फलवाली, दूसरी जाति, आयु भोगफल वाली । जब कोई कर्म करता है तो उसके फल के अनुकूल ही सारी वासनाएँ प्रकट हो जाती हैं ।

अब हम योगियों के निर्माण - चित्त के द्वारा होने वाले कर्मों पर विचार करते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है —'पञ्चविध निर्माण चित्त', जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धय् इति, । जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उनमें जो ध्यान से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासना रहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति वासनाएँ नहीं होती। इस कारण क्लेश नष्ट होने से योगी का पुण्यपाप से सम्बन्ध नहीं होता। दूसरे चार (जन्म, ओषधि, मन्त्र और तप से उत्पन्न होने वाले सिद्ध निर्माण चित्तों) की तो कर्म और वासनायें विद्यमान रहती हैं। "ध्यानजं समाधिजं यच्चित्त तत्पञ्चसुमध्येऽनाशय कर्म वासना रहितं" (भोजवृत्तिः) ध्यानजं अर्थात् समाधि से उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पाँचों में अर्थात् कर्म की वासना और संस्कारों से रहित होता है यह अभिप्राय है ।

पुनः तत्र "ध्यानजमनाशयम्"

जन्म ओषधि- मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही, वासन रहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होती । इस कारण क्लेश नष्ट होने से योगी का पुण्य पाप से सम्बन्ध नहीं होता । दूसरे चार (जन्म, ओषधि, मन्त्र और तप से उत्पन्न होने वाले) सिद्ध निर्माण चित्तों की तो कर्म और वासनाएँ रहती हैं। (व्यासभाष्य)

जब योगी भी साधारण मनुष्यों की भाँति कर्म करते देखे जाते हैं तो उनके चित्त वासन रहित किस प्रकार हो सकते है?

"कर्माशुक्ला कृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्"

योगी का कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल, न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरों का तीन प्रकार का (पाप,पुण्य और पाप-पुण्य मिश्रित होता है ।

अस्तु, मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार फल अवश्य भोगना पड़ता है । वही पूर्व जन्म कृत कर्म वर्त्तमान में 'भाग्य' या प्रारब्ध कहा जाता है । यद्यपि यह अपने कर्मों के फल का विपाक ही है तथापि योगी अपने साधन द्वारा उस प्रारब्ध को मेंट या बदल सकता है।

इस हेतु साधक को निष्ठा पूर्वक, गुरु-वचनानुसार अनवरत अपने साधन-मार्ग में रत रहना अपेक्षित है ।

—सत्यं - शिवम् - सुन्दरम्—

(श्री वनवासी)

मगध के राजकुमार सिद्धार्थ एक दिन अपनी राजधानी से बाहर राजकीय सुसज्जित रथ पर बैठकर वायु सेवन के लिए जा रहे थे। सामने एक शतवर्षीय जराजीर्ण दुर्बलकाय पुरुष को लाठी का सहारा लेकर चलते हुए उन्होंने देखा। उन्होंने देखा दुर्बलकाय वयोवृद्ध पुरुष चल तो रहा है पर उसका शरीर और पैर उसका साथ नहीं दे रहे हैं। अपनी झुकी हुई कमर पर फिर भी बुढापे की वेदना लिये वह चला जा रहा है।

× × ×

राजकुमार ने रथवान से पूछा—सारथि यह कौन है और क्यों इस तरह झुके-झुके जा रहा है। सारथी ने कहा — महाराज यह एक वृद्ध नागरिक है। इसकी यह दशा बुढापे के कारण से है।

× × ×

राजकुमार की चिन्तन-मुद्रा कुछ और गहरी हुई—उन्होंने फिर पूछा—सारथि क्या हमारी भी ऐसी दशा होगी?

× × ×

सारथी ने कहा—अवश्य ही महाराज। जो बालक है वह जवान होगा और जो जवान है वह बुड्ढा होगा। जगत का ऐसा ही नियम है। हम और आप सब एक दिन इसी दशा को प्राप्त होंगे।

× × ×

राजकुमार विचारों के गहरे सागर में डूब गये। इतने में ही सामने उन्होंने देखा अनेक लोग एक अर्थी पर किसी निर्जीव शव को कसे हुए लिये जा रहे हैं। साथ में उसके परिवारी न रोते-पीटते चले जा रहे हैं। यह पहला मौका था। जब राजकुमार ने किसी मरे व्यक्ति को ले जाते हुए देखा था अतः आश्चर्य से उन्होंने पूछा – सारथी यह क्या है?

× × ×

सारथी ने कहा —महाराज यह मृत व्यक्ति है जिसे उसके परिवारी और पास-पड़ौस के लोग शव-संस्कार करने लेजा रहे है। मौत ने इसके प्राण-पखेरु हर लिये हैं अब इसका निर्जीव शरीर आग में जला दिया जायगा अथवा कहीं मिट्टी में दबा दिया जायगा।

राजकुमार ने पूछा—सारथि क्या हमको भी मौत का सामना करना होगा ? क्या हमारा यह कञ्चन जैसा मूल्यवान शरीर भी निष्प्राण होकर आग की भेंट होगा ?

× × ×

सारथी ने कहा—निश्चय ही महाराज–जो जन्मता है वह मरता अवश्य है। हम और आप भी जन्मे हैं इसलिए मरेंगे भी एक दिन जरूर।

× × ×

तो कब मरेंगे ?–राजकुमार ने पूछा।

× × ×

सारथी ने कहा--महाराज इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। मौत का कोई दिन निश्चित नहीं है। वह आज अभी इसी समय भी आ सकती है और कुछ समय बाद भी। मगर यह निश्चय है कि वह आयेगी जरूर।

× × ×

राजकुमार विचार-मग्न हो गये। सोचने लगे जब बुढ़ापा और मृत्यु अनिवार्य्य है तब वह मार्ग क्यों न अपनाया जाय जिससे इनका निराकरण हो। राजकुमार ने निश्चय किया साधना और तप का मार्ग ही इनके निराकरण का मार्ग है।

× × ×

इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि राजकुमार सिद्धार्थ ने साधना और तप का मार्ग अपनाकर बुद्धत्व प्राप्त किया। उन्होंने संसार को यह बोध दिया कि शाश्वत सुख और शान्ति वैभव और बिलास में नहीं किन्तु—वह मिलती है त्याग तपस्या और साधना का पथ अपनाने से।

× × ×

साधना और त्याग तपस्या का पथ ही ऐसा पथ है जिस पर चलकर मनुष्य को अमरता प्राप्त हो सकती है।

× × ×

योग दर्शन,इसी साधना पथ को अपनाने का निर्देश देता है। वे सचमुच भाग्यशाली हैं जो यौगिक साधना को आधार बनाकर अपना लोक और परलोक सँवारने का अवसर पाते हैं।

रहिमन बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं॥

हंसोपनिषद्

[श्री मनोहरलाल शर्मा एम.ए द्वारा प्रेषित हंसोपनिषद् के महत्वपूर्ण अंश 'सिद्धयोग' के गत कई अंकों में क्रमशः प्रकाशित किये गये थे। 'सिद्धयोग' के पाठकों को अवश्य ही उनसे उनके ज्ञान-कोष में नई अभिवृद्धि हुई होगी। हिन्दी के संत-साहित्य में चरणदास का अपना प्रमुख स्थान है। हंसोपनिषद् का जो भावपूर्ण पद्यानुवाद चरणदास जी ने किया है वह श्री मनोहरलाल शर्मा ने हमें प्रेषित किया है जिसे हम 'सिद्धयोग' के प्रस्तुत अंक में पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित कर रहे हैं

सं० सम्पादक]

स्वामी चरणदास कृत
हिन्दी पद्यानुवाद

चरणदास ने 'स्वरोदय' नाम के ग्रन्थ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है —:

— छप्पं —

डहरे में मेरो जनम, नाम रणजीत पिछानो।
मुरली को सुत जान, जात ढूसरि पहिचानो॥
बाल अवस्था मांहि, बहुरि दिल्ली में आयो।
रमत मिले शुकदेव, नाम चरणदास धरायो॥
जोग जुक्ति हरिभक्ति कर, ब्रह्मज्ञान दृढ़ करि गह्यो।
आतम तत्त्व विचारि के, अजपा में मन सनि रह्यो॥

(मूल अनुवाद आगे के पृष्ठ पर है)

प्रेषक
श्री मनोहरलाल शर्मा
एम.ए

हंसोपनिषद् — पद्यानुवाद

दोहा

बन्दत श्री शुकदेव को, उनको हिय में लाय।
छिप्यो भेद परगट कियो, परमारथ के दाय॥
संस्कृत भाषा करि, ताको यह दृष्टान्त।
खोलि-खोलि सबही कही, समझै छूटै भ्रान्त॥
ज्यौं कूए सों नीर ले, बाहर दियो भराय।
बिना यतन कोई पियौ, तिरषावन्त अघाय॥
यो दीन्ही शुकदेव ने, मैं जल काढ़नहार।
प्यासा कोइ न आइयो, टेरौं बारंबार॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य जो, अरु शूद्रहु जो होय।
वह पीवैगा हेत करि, बहु प्यासा जो कोय॥
मुक्तिहु नीकी प्यास जो, काहूही को होय।
और मनुष जग प्यास में, रहे जु मृत्यक होय॥
यह जग ऐसो जानिये, मृगतृष्णा को नीर।
निकट जांय प्यासा काई, कमी न मांगै पीर॥
उनकी प्यास बुझै नहीं, होय नहीं हिय चैन।
ज्ञान सुधा तजि जात है, धोखे को जल लैन॥
ज्ञान नीर तिरपत भये, निश्चल बैठे दास।
संसारी प्यासे गये, पूरी भई न आस॥
संस्कृत जानो कूप सम, भाषा नीर निकास।
प्याऊँ जिज्ञासून को, तिनकी भगै पियास॥

अष्टपदी

वेदहि को उपनिषद् जु मैं भाषा करी।
जो कुछ था वहिमाहि सोई जैसे धरी॥
मुनि समझे मन माहि और कैरनी करै।
आवागमन मिटाय नहीं देही धरै॥

जगकी व्याधा छूटि मुक्तिपद पावई ।
जाग्रत पहुँचे ठौर स्वप्न बिसरावई ॥
तिमिर सभी भजिजाय उजारा होय है ।
सूझै आतम रूप द्वैतता खोय है ॥
उपजै अति आनन्द द्वन्द दुख जाय है।
तिरपति निर्मलज्ञान विज्ञान अथाय है ॥
जौपै करें विचार और गुरुसों लहै ।
वाकी गहनी गहै और रहनी रहै ॥
गुरु शुकदेव प्रताप सौ चितते गाइया ।
चरणहिदासा होय सबन शिर नाइया ॥

दोहा

पूजे ऋषि मुनि देवता, पूजे इन्द्रहु भूप ।
पूजा सबही इष्ट को, देखा हरि के रूप ॥
सर्वत्रहि प्रभु देखिकरि, सबको शीश नवाय ।
उपनिषदें जो वेद की, परगट कहीं बनाय ॥

अष्टपदी

प्रथम प्रगट करी छिपेही भेदकी ।
हंस नामऊंनाम अथर्वणवेद की ॥
गौतमऋषि करि चाव ऋषीश्वर पै गये ।
संत सुजातजु नाम बहुत आदर किये ॥
गौतम स्तुति करी बहुतही प्रीति सौं ।
फिरि पूंछी यह बात जूं लघुता रीति सौं ॥
परमेश्वर पहिचान मोहि समुझाइये ।
मुक्तहोन के पन्थ सबै जु दिखाइये ॥
ह्वंकर बहुत प्रसन्न ऋषीश्वर बोलिया ।
गौरा अरु महादेव की चरचा खोलिया ॥
सब देवन के देव महादेव हैं सही ।
उपनिषदें जो वेद कि गौरा सों कही ॥

सो मैं तुमसों कहौं प्रिति के भाव सों।
तुमहूं नीके सुनौं अधिकही चाव सों ॥
गुप्त महा यह भेद हिये में राखिये।
जो जड़ मूरख होय तासु नहिं भाखिये ॥

दोहा

हरिभक्ता अरु गुरमुखी, तप करने की आस।
सतसंगी सांचा यती, ताहि देहु चरन्दास ॥

अष्टपदी ॥

अब मैं कहौं संभाल सुरत ह्यां दीजिये।
यह तो अचरज कथा श्रवण सुनि लीजिये ॥
यही श्वास कहि हंस आय अरु जाय है।
पूरा सतगुरु मिलै तो भेद लखाय है ॥
जो कोउ याको समझि करै अरु ध्यानहीं।
ऋद्धि सिद्धि सुखहोहि जु उपजै ज्ञानहीं ॥
अन्त मुक्ति ही होय अभैपद में रहै।
बहुरी जन्म न होय परम आनंद लहै ॥
अब मैं बरणौं हंस और परमहंसही।
जो समझ हूं ब्रह्म जाय सब संशही ॥
हंस हंस जो मंत्र अर्थ पहिचानिये।
वह मैं हूं यों कहै निश्चय करि जानिये ॥
यह मंतर सब माहिं सदाही भरि रह्यौ।
कोटिन में कोइ जानि ध्यान सो धरि रह्यौ ॥
जैसे काठ में आगि तिलों में तेल है।
तैसे सब घट माहिं इसी का मेल है ॥

दोहा

दूध मध्यज्यों घीव है, मेहदी माहीं रंग।
यतन बिना निकसै नहीं, चरणदास से ढंग ॥

जो जाने या भेदको, और करै परवेश ।
सो अविनाशी होत है, छूटै सकल कलेश ।।

अष्टपदी

तनमथने को पवन कहूं अब आनिये ।
क्यों निकसै ततसार बिलोवन ठानिये ।।
पहिले चक्कर जानि मूल द्वारे विषे ।
जितहीं पाँव की एडी सूं बन्ध दे रखे ।।
मूल चक्रसौं खैंचि अपान चलाइये ।
दूजे चक्कर पास जु आनि फिराइये ।।
दहिनी ओरसों तीनि लपेटे दीजिये ।
तीजे चक्कर माहि, गमनफिरि कीजिये ।।
चौथे चक्कर माहि पवन जो लाइये ।
बहुरी पंचवें चक्र में जू पहुंचाइये ।।
षष्टम चक्कर माहि जु ताहि चढाइये ।
सो त्रिकुटी के मध्य तहां ठहराइये ।।
रोकै त्रिकुटी माहि आनि के वायुको ।
घट्चक्कर को छेदि चढै जब वायको ।।
अपान वायु चढ़िजाय वही अस्थान है ।
प्रान वायु हूं जाय साधु कोइ जान है ।।
रोकै प्रानहि वायु त्रिकुटी मध्यही ।
ओं का करै ध्यान शीश में मध्य ही ।।
यह तो ऊंचा ध्यान जु अधिक अनूपही ।
चरणहिदास होय जु ब्रह्म स्वरूपही ।।

दोहा

नाम ब्रह्म का है नहीं है तो ओंकार ।
जाने आपन को वही, मैं हों तत्व अपार ।

अष्टपदी

अनहद शब्द अपार दूर सों दूर है ।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है ।।

ताहि निःअक्षर जानि और निष्कर्म है।
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है।
हृदय कमल के माहि ध्यान सोहं करै।
ताहि को अजपा जान सुरति मन ले धरै।
बिनहि जपे जप होय सुसांची बात ही।
सहस इक्कीस अरु छस्सै जहां दिन रातही॥
याका कीजै ध्यान होत है ब्रह्मही।
धारै तेज अपार जाहि सब भर्महो॥
या पटतर कोइ नाहि जु यौंहीं जानिये।
चन्द सूर्य अरु सृष्टि के माहि पिछानिये॥
सो वह तेज अपार आपको मानिये।
निश्चय करु यहि सांच जु मन में आनिये॥
जब लग याही भेव जो जाना था नहीं।
जीवातम अरु हंस होरहा था तहीं॥
जभी अगोचर भेद जु मनमाहीं लहा।
परमातम परमहंस रूप निश्चय भया॥

दोहा

जो जीवातम सों भया, परमातम अरु ब्रह्म।
वाकी सरवर को करै, पाई परै न गम्य॥
पहुंचे ना वा तेज को, कोटिकोटि ही भान।
चरणदास कोइ जानहीं, ताको निर्मलज्ञान॥

अष्टपदी

परम ज्योति को प्रापत सो नर होत है।
जिन मन जीता होय लगावत गोत है॥
जिनमन जीता नाहि विषय आवत वहै।
हृदय कमलदल माठ सु हं फिरता रहै॥
अष्ट पंखरी जान जु आठो अंगहीं।
वहीं दिशा हैं आठ करें मन भंग ही॥

पंखरी पूरब दिशा जबै मन जात है।
तब इच्छा हिय पुण्य करन की आत है॥
अग्नेय दिशा है पंखरी जब जावै मना।
ऊंघ नींद अरु आलस जित आवें घना॥
रछिणहिं जु दिशा पंखरी राजई।
उपजै बहुत विरोध कठोरता साजई॥
दिशा जु नकृत पेंखरी पै मान रंगही।
पाप करन की उपजै हियै तरंग ही॥
पश्चिम दिशा जु पेंखरी पै मन आरहै।
होय खुशी परफुल्ल जु लीला को चहै॥

दोहा

वायव दिशा जु पेंखरी, जब मन पहुँचे जाय।
हलन-चलन उपजै हियै, बैठे देहि उठाय॥

अष्टपदी

उत्तर दिशा जु पेंखरी पै मन आवई।
मैथुन करनकि चाह हिये उपजावई॥
ईशान दिशा पेंखरी पर मन आवै जभी।
दान करन की चाह अधिक उपजै तभी॥
हृदय कमल के बीच जबै मन जारहै।
उपजि त्याग वैराग तजन जगको कहै॥
हृदय कमल को छेदि बाहर मन फिरतही।
जासे पासे जानि होय जाग्रत ही॥
हृदय कमल के घेर के मध्यम जातही।
जब आवै वह स्वप्न जहां बहु भांति ही॥
थान बराबर छेदि तहां मन जात है।
होहि सबै गुण लीन सखी पतियात है॥
हृदय कमल को छोड़ि होय जब न्यारही।
तुरिया में मन जात जु तत्व अपारही॥

यो जीवातम जान जु अनहद लीन हों।
सो परमातम होय जीवता जाय खो ॥

दोहा

अजपाही के जापको, सिद्ध भयो जब ज्ञान।
पहुँचे या अस्थानही, रहे न दूजा भान ॥
यह जो सब कुछ मैं कहौं, हिरदै जाना जाय।
ताही को पहिचानिये, चरणदास चितलाय ॥

अष्टपदी

कैसे अनहद उठे हिये अस्थान सों।
यह जीवातम सुनै हृदय बल ध्यान सों ॥
दश प्रकार के नाद कहूं भिन्न भिन्नही।
सो उपनिषदहि माहिं कहै सब चिन्हही ॥
पहली ऐसे होय चिड़िया ज्यों चीला।
एकबार कहै चिह्न सुनो सोई सुरंतला ॥
ऐसेही दोबारा जु दूजी जानियें।
चिह्न चिह्नहीं होत ताहि पहिचानिये ॥
क्षुद्रघंटिका तीसरि चौथी शंख ज्यों।
पंचम ऐसी जान बजत है बीन त्यों ॥
छठी बजै ज्यों ताल सातवीं बांसुरी।
अठवें शब्द मृदंग लगे मन गांसुरी ॥
नवें नफीरी नाद जु दशवें सिद्धि है।
बादर कैसी गरज्ज ददह दंहूंद है ॥
करते में अभ्यास जु नाद सब खुलें।
जैसे बटाउ चलत नगर नौ मग मिलें ॥
दशवें पहुँचे जाय नवें बिसराइया।
रहत किया वा देश जहां घर आइया ॥
ऐसेही नौ छोड़ नाद दशवां गहैं।
बादल कैसी गर्ज जहां मन्न दे रहैं ॥

वाको छोड़ै नाहिं तदा रहै लीनहीं ।
यही जु अनहद सार जानि परलीनही ॥
याको प्रापत कहूं जो मन में आनिये ।
गौरासों शिव कही साँच करि जानिये ॥

दोहा

चरणदास ने अब कही, जुदी जुदी दशनाद ।
वही परापत को लहै, जो कोई साधै साध ॥

अष्टपदी

पहिलि परीक्षा जान जु अनहद नाद की ।
सबै रोमावलि उठै जु वाके गातकी ॥
अरु दूजी जब सुने नाद चित लावई ।
सबतन अंगन माहिं आलकस छावई ॥
तीजी अनहद नाद सुने जितही जुटै ।
सब अंगन हियमाहि प्रेम पीड़ा उठै ॥
चौथि सुनै जब नाद परीक्षा पावई ।
तब शिर घूमनलगे अमल ज्यों खावई ॥
पचवीं उठै जो नाद सुनै तामें पगै ।
वाके शीश सो जानि अमी उतरन लगे ॥
छठी उठे जब नाद सुरत वामें धरै ।
कण्ठ सों नीचे उतरि अमी पीवन करै ॥
सतवीं खुलै जो नाद विना श्रवणन सुनै ।
अन्तर्यामी होय लखै सबकै मनै ॥
दूर दूर के बचन सुनै कोई कहै ।
होव परे की दृष्टि छप्यो कुछना रहै ॥
अठविं परीक्षा जानि परापत जो बनै ।
सब माहीं सबठौर नाद अनहद सुनै ॥
है सबही के मांझ बैन समझै सुनै ।
यह समझै अरु सुनै ताहि नीके गुनै ॥

दोहा

खुलै नवा जब नादही, लक्षण यह पहिचान।
सूक्ष्म होय जितसित गमन, करै धरै जो ध्यान।।
काहू हीको दृष्टि सो, चढ़ै अगोचर होन।
होय सकै दीखै नहीं वह सब देखै जौन।।
जैसे सुर सबकों लखें, उन्हें न देखे कोय।
रणजित कहै अस्थूल हो, चाहै सूक्ष्म होय।।

अष्टपदी

दशवीं खुलै जो नाद परे सोहंपरे।
पारब्रह्म होइजाय ध्यान ताको करे।।
ध्यानी को मन लीन होय अनहद सुनै।
आप अनाहद होय वासना सब भुनै।।
पाप-पुण्य छुटिजाय दोऊ फल ना रहैं।
होय परमकल्याण जु त्रैगुण ना गहैं।।
होवै बोध स्वरूप तेज ह्वै जात है।
अटक रहे नहि कोय सबै ठां समात है।।
अज अविनाशी शुद्ध पवित्तर सत्तही।
होवै आनंदरूप परम जो तत्वही।।
र्निविकार निर्लेप और निर्बानहीं।
आनंद सबको देत आपको जानहीं।।
या ध्यानी को नाम जु ओंकार है।
सब नामनमें बड़ा किया जु विचार है।।
याको ऐसे माने कि वह जो मैंही हूं।
रूप नाम गुण जान कि यह सब वाही सूं।।

दोहा

करते अनहद ध्यानहो, ब्रह्मरूप ह्वं जाय।
चरणदास यों कहत है, बाधा सब मिटि जाय।।

: विज्ञान और धर्म :

(श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह एम०ए०, दर्शनशास्त्र)

पदार्थों अथवा घटनाओं के निरीक्षण और प्रयोग द्वारा प्राप्त सामान्य, यथार्थ तथा निश्चित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान का लक्ष्य है बाह्यानुभवजन्य ज्ञान, अर्थात्, भौतिक पदार्थों अथवा घटनाओं से सम्बन्धित सत्यों का वह समूह जिसका भौतिक प्रमाणों द्वारा समर्थन हो सके। विज्ञान का संसार के प्रति जो दृष्टिकोण है वह यान्त्रिक, अवैयक्तिक, सैद्धान्तिक और बाह्यविषयक है। आजकल के लोगों की यह सामान्य धारणा सी हो गई है कि विज्ञान और धर्म दोनों अपनी प्रवृत्तियों और विधियों में एक दूसरे के विरुद्ध है। विज्ञान को तर्कसंगत, सैद्धान्तिक, अवैयक्तिक तथा बाह्यविषयक माना जाता है और धर्म को विश्वास पर आधारित, साधनमूलक, व्यक्तिगत तथा अन्तर्विषयक माना जाता है। विज्ञान इन्द्रियों के परे नहीं जाता। उसका क्षेत्र प्रत्यक्ष तक ही सीमित है। किन्तु धर्म इन्द्रियातीत और अतिभौतिक सत्य प्रदान करता है और उस सत्य तक पहुँचने का मार्ग भी बतलाता है।

प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि पहले विज्ञान धर्म के बाहर नहीं था, क्योंकि एक ही ग्रन्थ में धर्म सम्बन्धी व्याख्यायें तथा जगत सम्बन्धी वैज्ञानिक व्याख्यायें साथ-साथ देखने को मिलती हैं। किन्तु समय बीतने के साथ-साथ मनुष्य के जगत सम्बन्धी ज्ञान की उत्तरोत्तर बढ़ती हुयी पिपासा ने उसको प्रकृति की गहनतर गुहा में प्रविष्ट होने तथा उसके बारे में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य कर दिया। इस प्रकार प्रकृति के बारे में नवीन खोजें होने लगी और नये-नये भौतिक सत्य स्थापित होने लगे।

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के अग्रणी पाश्चात्य देशवासी ही हुए। उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान को ही एक मात्र प्रमाण माना, जो वस्तु पंच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष हो सके उसी की सत्ता उन वैज्ञानिकों को मान्य है, इसके अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय तत्त्व भी हो सकता है, यह उन्हें स्वीकार नहीं है। ईश्वर एक अतीन्द्रिय सत्ता है अतः वे ईश्वर की सत्ता को निश्चयपूर्वक नहीं मानते। धर्म का सम्बन्ध ईश्वर से है अतः ईश्वर को न मानने के कारण वे धर्म को भी नहीं मानते। वैज्ञानिकों के जगत तथा जीवसम्बन्धी ज्ञान का एक मात्र आधार उनका ऐन्द्रिय अनुभव

है। इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने जीव और जगत की ईश्वर रहित भौतिक व्याख्यायें की हैं। आइए हम उनकी इन व्याख्याओं पर विचार करें और देखें कि उनमें कितनी सत्यता है, तथा उनके अनुसार आचरण करने का क्या परिणाम होता है।

विश्व की रचना के बारे में वैज्ञानिकों का नीहारिकावाद का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। लाप्लास प्रभृति वैज्ञानिकों का कहना है कि जगत के उपादान तत्त्व प्रारम्भ में अस्तव्यस्त तथा इधर-उधर बिखरी हुई दशा में थे, किन्तु विकासवाद की प्रक्रिया में वे एकत्र हो गये और मिलकर एक विशाल प्रकाशमय दहकते हुए गोले के रूप में परिणत हो गये। यह गोला असीम वेग से अपनी ही धुरी पर नाचने लगा। यह है विकासवाद का प्रथम क्रम जिसे एकीकरण कहते हैं। इसके पश्चात् दूसरा क्रम आया जिसे विभक्तीकरण कहते हैं। इस दूसरे क्रम के अनुसार उस गोले में से कुछ पिण्ड टूटकर अलग हो गये और वे भी अपनी धुरी पर बड़े वेग के साथ नाचते हुए उस मूल गोले की परिक्रमा करने लगे। वह मूल गोला आज भी गर्मी और प्रकाश प्रदान करता है और उसी को सूर्य कहते हैं। जो पिण्ड उस सूर्य की परिक्रमा करते हैं उन्हें ग्रह कहते हैं। उन्हीं ग्रहों में से हमारी पृथ्वी भी एक है। कालान्तर में इन ग्रहों से भी पिण्ड टूटकर अलग हो गये और सम्बन्धित ग्रहों की परिक्रमा करने लगे। इन्हें उपग्रह कहते हैं। चन्द्रमा भी इसी प्रकार का एक उपग्रह है जो पृथ्वी की परिक्रमा किया करता है। संक्षेप में यही सृष्टिरचना की सरल वैज्ञानिक व्याख्या है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा कहा जा सकता है कि परमाणु, शक्ति तथा गति (जो सृष्टि रचना के पहले से ही विद्यमान थे) का उद्देश्यहीन मेल ही यह सृष्टि है।

इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को को हम युक्तिसंगत सिद्धान्त न मानकर कपोल कल्पना ही कहेंगे। क्योंकि, कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका समुचित उत्तर विज्ञान हमें नहीं देता। वे बिखरे हुए तत्त्व क्यों एकत्र हुए ? दूसरे, उनमें गर्मी और प्रकाश कहां से आया ? तीसरे, वह आग का विशाल गोला अन्तरिक्ष में नाचने क्यों लगा ? चौथे, वे एकत्रित तत्त्व छिन्न-भिन्न क्यों होने लगे ? इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न हो सकते हैं जिनका समुचित उत्तर मिलना कठिन है।

एक दूसरे मत के अनुसार प्रारम्भ में केवल प्रोटाइल था और शक्ति थी। एक दिन उस प्रोटाइल अथवा ईथर में स्वतः तीव्र आंदोलन हुआ और असंख्य बुलबुले उत्पन्न हो गये। इनका नाम इलेक्ट्रान है। निर्विशेष ईथर बिन्दु का सविशेष रूप ही इलेक्ट्रान कहलाता है। इलेक्ट्रान दो प्रकार का होता है। विधानात्मक और निषेधात्मक। विधानात्मक इलेक्ट्रान

को 'प्रोटान' तथा निषेधात्मक इलेक्ट्रान को 'श्रायन' कहते हैं। प्रोटान तथा आयन के संघात भेद से परमाणुओं की रचना हुयी। इस प्रकार प्रकृति ने लेक्ट्रानों के संघात भेद से सैकड़ों प्रकार के तत्वों की रचना कर दी। उन्हीं परमाणुओं पर ताप, विद्युत, प्रकाश आदि जड़ शक्तियों की क्रियाओं के फलस्वरूप इस विचित्र स्थावर अथवा निरंग संसार की रचना हुई।

अब प्रश्न उठता है- वह विशाल ईथर-सागर आया कहाँ से ? उसमें आन्दोलन क्यों प्रारम्भ हुआ ? और यदि आन्दोलन हुआ भी तो उसी समय क्यों हुआ उससे पहले या बाद में क्यों नहीं हुआ ? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका संतोषजनक उत्तर हमें विज्ञान नहीं देता।

पाश्चात्य विज्ञान के लिए विकासवाद की आपत्तियों का खण्डन करना असम्भव है। किन्तु हमारे प्राचीन भारतीय विज्ञान में स्वीकृत विकासवाद का सिद्धान्त सारे प्रश्नों का समुचित और यथार्थ उत्तर प्रस्तुत करता है। विकासवाद का अर्थ है क्रम विकास। अर्थात्, अव्यक्त से व्यक्त तथा व्यक्त से व्यक्ततर होना। हमारा भारतीय धर्मशास्त्र भी विकासवाद के इसी स्वरूप को मानता है। वृहदारण्यक उपनिषद् कहता है—: "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतं आसीत्।" तैत्तिरीयो निषद् कहता है:—

असद् वा इदमग्र आसीत्।

जगत की अव्याकृत, अव्यक्त अविशेष आदि अवस्था का विकास होकर यह व्याकृत व्यक्त तथा सविशेष संसार बना है। इसीलिए सांख्य दर्शन कहता है— "अविशेषात् विशेषारम्भः।" अर्थात् — अविशेष से सविशेष का प्रारम्भ होता है। गीता भी कहती है:— अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः। अर्थात्, अव्यक्त से सभी व्यक्त होते हैं।

सांख्य और योग के मतानुसार इस सृष्टि की रचना प्रकृति के तीन गुणों सत रज और तम से हुई है। गुणों की साम्यावस्था में सारी सृष्टि प्रकृति के अव्यक्त स्वरूप में लीन रहती है। इस अवस्था में जब प्रकृति के निर्मल दर्पण में पुरुष अपना प्रतिबिम्ब देखता है तो उस प्रतिबिम्ब को ही भ्रम से अपना वास्तविक स्वरूप मान बैठता है। पुरुष में इस प्रकार का भ्रम होते ही गुणों की साम्यावस्था जिसमें सत, रज और तम समान अवस्था में रहते है, भंग हो जाती है और प्रकृति विश्व के रूप में व्यक्त हो जाती है। प्रकृति का यह व्यक्त स्वरूप पुरुष को भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिए होता है। निरुद्देश्य नहीं।

वेदान्त दर्शन के अनुसार यह सारी सृष्टि पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, वायु अग्नि और आकाश) से मिलकर बनी है। ये महाभूत सूक्ष्म भूतों के 'पंचीकरण, नामक क्रिया

से बने हैं। सूक्ष्म भूतों की अभिव्यक्ति महत्तत्त्व से हुई है। महत्तत्त्व प्रकृति का अव्यक्त स्वरूप है।

प्रायः सभी हिन्दू धर्मशास्त्र यही मानते हैं कि अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त सृष्टि का रूप धारण कर रही है और इसके व्यक्त स्वरूप में क्रमिक विकास का नियम लागू है। यहाँ तक तो आधुनिक विज्ञान और धर्म में विरोध नहीं है, किन्तु अब हमें दो बातों पर विचार करना है। पहला तो यह कि क्या धर्मशास्त्र उन उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर दे सकता है जिनका समुचित उत्तर हमें विज्ञान से प्राप्त नहीं होता ? दूसरा यह कि क्या विज्ञान द्वारा प्रतिपादित विकास क्रम धर्म द्वारा प्रतिपादित विकास क्रम से भिन्न है और यदि भिन्न है तो उनमें से कौन अधिक युक्तिसंगत है। अब हम इन प्रश्नों पर क्रमशः विचार करेंगे।

प्रश्न है- यह अव्यक्त प्रकृति अथवा प्रोटो" इल या ईथर कहाँ से आया और किसने बनाया इसका उत्तर देते हुये हमारा हिन्दू धर्म कहता है कि इसे न किसी ने बनाया और न तो यह कहीं से आया। प्रकृति अनादि है अतः इसके किसी के द्वारा बनाने तथा इसके कहीं से आने की बात ही पैदा नहीं हो सकती। यदि हम इसका कोई बनाने वाला मानते हैं तो प्रश्न होता है कि कब बनाया और क्यों बनाया ? जो अनादि है उसके लिए 'कब' और 'क्यों' का प्रश्न ही युक्तिसंगत नहीं है। अब यदि हम पूछे कि कहाँ से आया तो यह भी प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि, 'कहाँ' शब्द से स्थान अथवा अवकाश सूचित होता है, प्रकृति और अवकाश दो अलग सत्ताएं नहीं है वरन् अवकाश स्वयं प्रकृति का ही एक अंश है और प्रकृति से पृथक नहीं है।

दूसरा प्रश्न है- प्रकृति की साम्यावस्था में आन्दोलन क्यों हुआ ? अथवा, अव्यक्त प्रकृति क्यों व्यक्त हुई ? अथवा, ईथर सागर में मंथन क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर जानने के पहले हमें अपने धर्म शास्त्र के 'आवर्तवाद' को जान लेना आवश्यक है। वर्तमान सृष्टि एक मात्र तथा नवीन सृष्टि नहीं है। इसकी रचना के पूर्व यह अव्यक्त रूप में थी उसके पहले व्यक्त थी। इसी प्रकार वर्तमान सृष्टि भी इस कल्प के अन्त में तिरोहित हो जायगी और नये कल्प के प्रारम्भ में पुनः आविर्भूत होजायगी। हमारे धर्म शास्त्र का कथन है :—

सूर्याचन्द्रमसौधातायथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व :॥

अर्थात्, ब्रह्मा ने सूर्य चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग लोक की रचना पूर्व कल्प के अनुसार की। इस प्रकार जगत का आविर्भाव तथा तिरोधान होता रहता है। इसी को 'आवर्तवाद' कहते है।

मनुष्यों के कर्मों में एक शक्ति होती है जो अपना फल प्रदान करचुकने तक आन्दोलनो न्मुखी रहा करती है। उपयुक्त समय आने पर फल प्रदान कर चुकने के पश्चात् कर्मों क-

स्वतः नाश हो जाता है। नये कल्प के आरम्भ में प्राणियों के पूर्व कल्प में किये हुए कर्म अपना फल प्रदान करने के लिये अव्यक्त प्रकृति में मन्थन उत्पन्न कर देते हैं। जिसके फलस्वरूप प्राणियों के पूर्व कल्प में किये हुए कर्मों के अनुरूप ही नये कल्प में सृष्टि रचना होती है। कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि यह सृष्टि इसी प्रकार की क्यों बनी? किसी दूसरे प्रकार की क्यों नहीं बनी? ऐसे प्रश्नों का उत्तर बेचारा विज्ञान तो आजतक नहीं देसका, किन्तु हमारा धर्म-शास्त्र कहता है कि इसी प्रकार की सृष्टि से प्राणियों को उनके पूर्व कल्प-कृत कर्मों का समुचित फल मिल सकता था, इसी लिए वर्तमान सृष्टि रचना इसी प्रकार की हुई अन्य प्रकार की नहीं।

अब हम दूसरे प्रश्न पर विचार करेंगे। विज्ञान द्वारा प्रतिपादित विकास-क्रम धर्म द्वारा प्रतिपादित विकास-क्रम से भिन्न है। विज्ञान के अनुसार इस जगत का विकास प्रकृति की यान्त्रिक शक्तियों के उद्देश्यहीन खेल का परिणाम है। इन शक्तियों ने असंख्य तथा स्वतः निर्मित परमाणुओं को आकर्षित तथा अनाकर्षित करके, इन्हें बिना किसी उद्देश्य के विभिन्न प्रकार से संयुक्त और पुनःसंयुक्त करके संसार की रचना कर दी। किन्तु विकासवाद का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण सृष्टि के अन्दर पाये-जाने वाली एकता सुव्यवस्था तारतम्य का कारण बतलाने में असमर्थ है। सृष्टि रचना में निरुद्देश्यता का सिद्धान्त इस एकता, व्यवस्था तथा तारतम्य की व्याख्या नहीं कर सकता। प्रकृति की एकता की व्यवस्था बिना किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य को माने हो ही नहीं सकती। यांत्रिक कारणों द्वारा इसकी व्याख्या नहीं होसकती। वर्तमान का निर्धारण न केवल भूत के द्वारा वरन् भविष्य द्वारा भी होता है। भावी लक्ष्य वर्तमान का निर्धारक होता है। अतः हमें धर्म शास्त्र की यह बात माननी ही पड़ेगी कि इस विश्व में अन्तर्निहित एक समष्टि चेतन सत्ता अवश्य है जो इसके माध्यम से अपने लक्ष्य की पूर्ति कर रही है। यदि हम इस सत्ता को ईश्वर कहें तो इसमें क्या अनुचित है? यह संसार सोद्देश्य है निरुद्देश्य नहीं।

यहाँ तक तो हमने देख लिया कि वैज्ञानिकों का उद्देश्यरहित तथा ईश्वर-विहीन संसार तर्क तथा अनुभव की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। सृष्टि-रचना का पूर्ण संतोष जनक समाधान एकमात्र धर्म द्वारा ही होता है। यही हाल प्राणि रचना के सिद्धान्त का भी है जिसका विवेचन विस्तार भय से हम इस छोटे से लेख में नहीं कर रहे हैं। किसी अगले अंक में हम इस पर भी विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

उपसंहार

विज्ञान की सभी उपलब्धियों का अवमूल्यन करना प्रस्तुत लेख का लक्ष्य नहीं है।

हमारा लक्ष्य केवल इतना ही है कि वैज्ञानिक जड़वाद को आधार मानकर धर्म और ईश्वर से विमुख होकर हमें अपने जीवन को अशांति और दुःख का घर नहीं बना लेना चाहिए। हमारा धर्म तथा इस धर्म पर आधारित हमारी गौरवमयी संस्कृति-यही दोनों हमें सच्चा सुख और सच्ची शान्ति प्रदान कर सकते हैं। वैज्ञानिक जड़वाद को आधार मानने के कारण ही आज अमेरिका के समान अपराध बहुत कम देशों में होते हैं। एक समाचार पत्र में छपा था कि वियतनाम के युद्ध में जितनी हत्याएं होती हैं, उससे भी अधिक हत्याएं प्रतिदिन अमेरिका में होती हैं। केवल एक वर्ष के भीतर अमेरिका में लगभग साढ़े छः हजार हत्याएं तथा लगभग दस हजार आत्म-हत्यायें होती हैं। दुनिया में सबसे अधिक पागलों की संख्या अमेरिका में है। वहां का सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन नरक सा बन गया है। प्रति मिनट सैकड़ों तलाक होते हैं। लोगों को स्वभाविक नींद बहुत कम आती है नींद के लिए दवाओं का उपयोग करते हैं। इन सबका कारण है भौतिकवादी आदर्श, जिसका परिणाम होता है असहिष्णुता, असंतोष अशांति, भोगों की प्राप्ति के लिए बेचैनी, नास्तिकता, द्वेष, कलह, अहंकार इत्यादि।

अतः हमें सावधान हो जाना चाहिए पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से। उनका अन्धानुकरण पहुँचा देगा हमें एक दिन विनाश के कगार पर। अपनी गौरवशालिनी संस्कृति की अपेक्षा करना अपने ही हाथों अपनी कब्र खोदने जैसी बात होगी। अतः योगिराज अरविन्द के इन वाक्यों को सर्वदा याद रखने की आवश्यकता है:—

"भौतिक दृष्टिकोण से तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक दृष्टि कोण से तुम सब कुछ हो। केवल भारतीय ही सब कुछ विश्वास कर सकता है, सब प्रकार का साहस कर सकता है, सर्वस्व न्योछावर कर सकता है। अतः सर्व प्रथम भारतीय बनो। अपने पूर्वजों की पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त करो। आर्य विचार, आर्य अनुसार, आर्य चरित्र तथा आर्य जीवन अपनाओ। वेदान्त, गीता तथा योग को पुनः ग्रहण करो। उन्हें केवल बुद्धि की भावना में ही नहीं वरन् अपने जीवन में उतारो। उन्हीं के अनुसार अपना जीवन बनालो फिर तो तुम महान् और बलवान शक्तिमान, अजेय और निर्भय बन जाओगे। न तो जीवन और न तो मृत्यु ही तुम्हारे लिए भयदायक रह जायेंगे। 'कठिनाई' और 'असम्भव' तुम्हारे शब्द-कोश से गायब हो जायेंगे।"

श्री सिद्ध गुफा — (सवाई) पर

गुरु पूर्णिमा महोत्सव

गुरु पूर्णिमा का महोत्सव गत २९ जुलाई को श्री सिद्ध गुफा सवाई-आश्रम पर सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की उपस्थिति में दूर-दूर जिलों और प्रदेशों से आये हुए एक हजार से अधिक भाई बहनों द्वारा अतीव श्रद्धा-भक्ति के साथ मनाया गया। उत्सव की विशेषता थी उसका सात्विकता और पवित्रता के साथ सम्पन्न होना।

श्री सद्गुरुदेव महाराज इस बार ऋषिकेश योग साधन आश्रम के महोत्सव में सम्मिलित होने के बाद से ऋषिकेश में ही निवास कर रहे थे। वहाँ से वे गत २६ जुलाई को श्री सिद्ध गुफा सवाई आश्रम पर आ पहुंचे थे। उनके आगमन के तीन दिन बाद ही गुरु-पूजन का लाभ लेने के लिए गुरुपूर्णिमा के दिन से एक दो-दिन पूर्व ही श्रद्धालु शिष्यों की टोलियाँ आश्रम पर पहुँचने लगी थीं। शिष्या बहनों की संख्या भी गुरु-पूजन के लिए आने वाली इन टोलियों में कम नहीं थी। गुरु पूजन की अभिलाषा और श्रद्धा सबके हृदय में उमड़ रही थी। गुरुपूर्णिमा के दिन प्रभुजी की प्रातः कालीन आरती और स्तुति तथा सामूहिक संकीर्तन और गायन के बीच आये हुए शिष्यों द्वारा श्री सद्गुरु-पूजन और वन्दन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जो सायंकाल की आरती तक निरन्तर चलती ही रही श्री सद्गुरु देव अत्यन्त शान्त और देदीप्यमान मुद्रा में अपने आसन पर विराजे हुये थे। उनके हृदय की सरलता और उनके विद्वत्तापूर्ण तपो निष्ठ जीवन की छाप आश्रम के अणु अणु को प्रभावित कर रही थी। आगत शिष्यों और साधकों में इस बात की स्पर्धा थी कि गुरु पाद-पद्मों के पूजन का अवसर कौन पहले पा पाता है। श्रद्धा भक्ति की भावपूर्ण भागीरथी सद्गुरुदेव के आस पास हिलोर ले रही थी। पत्रं पुष्पं फलं तोयम् जो जिससे भी सम्भव हो सका गुरु चरणों में अर्पित कर रहा था। मुक्त हृदय से गुरुदेव महाराज सबको वह प्रसाद वितरित कर रहे थे जो कल्याण और परमानंद का प्रदाता था।

गुरु-पूजन के हेतु आने वाले सभी भाई-बहन और अन्य आगत अतिथियों की सामूहिक भोजन व्यवस्था श्री गुरुदेव के निर्देशानुसार आश्रम की ओर से ही की गई थी। गुरु पूर्णिमा के बाद भी कई दिन तक यह चहल पहल बनी रही

ब्राह्म-मुहूर्त

(श्री धर्मदेवशास्त्री)

आज-कल शहरों के शिक्षित भाई बहिनें ब्रह्म मुहूर्त में उठ कर नित्यकर्म करने का उपहास करेंगे। परन्तु हम तो प्रातःकाल जगने को राष्ट्रीय आचार मानते हैं। हमारे देश का अन्नदाता किसान यदि प्रातःकाल न जागे तो स्वयं भूखा मरे और अपने साथ राष्ट्र को भी भूखा मारे। किसान का तो कार्य प्रायः प्रातःकाल ही होता है।

ऋग्वेद में उषःकाल का जो स्वाभाविक वर्णन है उसका सच्चा अर्थ और आनन्द इन पंक्तियों को लिखते हुए हिमालय में मिल रहा है।

कितना सुहावना यह समय है, इस समय की वायु दिन भर नहीं मिल सकती, शरीर और मन स्वस्थ तथा शान्त है। अपने प्राणप्रभु के स्मरण को जी चाहता है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जो प्रभु को व्यर्थ और काल-यापन मानते हैं उनसे भी हमारा निवेदन है कि प्रातःकाल ब्राह्ममहूर्त में जागना चिरायु और स्वास्थ्य के लिए हितकर है।

जो व्यक्तिरात्रि को बहुत देर तक जागते हैं और प्रातःकाल देर से उठते हैं उनके शरीर में आवश्यक स्फूर्ति नहीं आसकती।

हम तो ऐसे स्वास्थ्य का स्वाद लेते हैं जिसमें सभी नागरिक खाते पहनते हों। सब सदाचारी और स्वस्थ हों, सब शिक्षित और आस्तिक हों,। सब नारी राष्ट्रीय सदाचार समझ कर प्रातःकाल उठें व्यायाम और स्नान करके नियत समय पर भोजन करें। राष्ट्र की सामूहिक शक्ति को जाग्रत करने के लिए हम चाहते हैं ब्राह्ममहूर्त में जागना देशवासी अपना कर्त्तव्य समझें।

महाभारत में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा है कि जो व्यक्ति सूर्योदय के समय और सूर्यास्त के समय चारपाई पर रहता है उसके पास लक्ष्मी नहीं रहती। निश्चय ही बीमार और अशक्त व्यक्ति प्रातःकाल उठने का अपवाद होंगे। परन्तु हम चाहते हैं कि अपवाद उत्सर्ग न बने।

हमारा देश संक्रान्त काल में से गुजर रहा है। हम चाहते हैं देश के नर नारी अपने स्वास्थ्य को उन्नत करने का प्रयत्न करें। स्वस्थ राष्ट्र ही अपनी रक्षा कर सकता है। हमारे देश को तो स्वतन्त्र होने पर बड़ी सांस्कृतिक देन देनी है, हमें उसके लिए तय्यारी करनी चाहिए।

प्रातःकाल उठना और उठकर शौच जाना यह दोनों आदत यदि राष्ट्र की आदत बन जावें यह हमारी अभिलाषा है।

कुछ उपदेश और आदेश

(एक संत की दैनन्दिनी से)

अपने को सबसे छोटा समझना, अभिमान न करना, किसी का दोष न देखना, किसी से घृणा न करना, कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना विवाह-उत्सव आदि जन समूह में कम शामिल होना, पापों से सावधान रहना और ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखना —ये साधक के आवश्यक गुण हैं।

× × ×

सुवर्ण और स्त्री इन दोनों से बचकर रहो। ये भगवान् और जीवके बीच में खाई बनाते हैं, जिससे यमराज मुंहमें धूल डालता है।

अविनाशी भगवान् और जीव के बीच में तीन धारायें (नदियाँ) हैं— (१) कुल,(२) काञ्चन और (३) कामिनी। जो इन तीनों को पार कर लेता है (इनमें आसक्त नहीं होता), वह भगवान के पास पहुँच जाता है।

तीन बातें सदा याद रखनी चाहिये (१) दीनता, (२) आत्मचिन्तन और (६)सद्गुरु-सेवा।

भजन के विघ्न ये है —

(१)लोक में मान प्रतिष्ठा होना।

(२) देश-देशान्तर में ख्याति होना।

(३) धन-लाभ होना।

(४) स्त्री में आसक्ति होना।

(५) संकलसिद्धि अर्थात् जिस पदार्थ की मन में इच्छा हो वही प्राप्त हो जाना।

भगवत्प्राप्ति के लिए ये अवश्य करने चाहिये-

(१) सहनशीलता का अभ्यास।

(२) समय को व्यर्थ न गँवाना।

(३) पदार्थ पास होने पर भी भोगने की इच्छा न करना।

(४) निरन्तर इष्टदेव का चिन्तन करना।

(५) सद्गुरु की शरण ग्रहण करना।

× × ×

श्री भगवान् चार मनुष्यों पर अधिक प्रेम करते हैं और चारपर अधिक क्रोध करते हैं। किन चार पर अधिक प्रेम करते हैं?

(१) दान करने वाले पर प्रेम करते हैं, लेकिन जो कंगाल होते हुए भी दान करता है, उस पर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(२) शूरवीरपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो शूर वीर विचारवान् होता है उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(३) दीन पर प्रेम करते हैं, लेकिन जो धनी होकर भी दीन हो जाता है उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(४) भक्त पर प्रेम करते हैं, लेकिन जो बचपन या जवानी से ही भक्ति करता है, उस पर ज्यादा प्रेम करते हैं।

श्री गुरुदेव जी का कार्यक्रम

श्री गुरुदेव जी का आगामी कार्यक्रम इस प्रकार है :—

दिनाङ्क	विवरण
३०-८-६९	आश्रम से दिल्ली के लिए प्रस्थान
३१-८-६९	दिल्ली में पो० ऋषिराम गुप्ता की कोठी पर विश्राम
१-९-६९	पानीपत के लिये प्रस्थान
२-९-६९ से ५-९-६९ तक	असूपुर सालवन आदि जिला (करनाल के) प्रोग्राम (जन्माष्टमी के अवसरपर सालवन में)
६-९-६९	सालवन से लाडवा को प्रस्थान
७-९-६९ से १२-९-६९ तक	लाडवा जि० करनाल में योग-प्रचार कार्यक्रम पता:– द्वारा – ला० साधूराम अठवारिया – (आढ़ती) मु० पो० लाडवा (करनाल)
१३-९-६९ को	लाडवा से रोपड़ के लिए प्रस्थान
१४-९-६९ से २२-९-६९ कत	रोपड में योग - प्रचार कार्यक्रम पता: द्वारा - पं. हजारीलाल खैराती: लाल म. नं. २८९ मुहल्ला ऊँचाखेड़ा बाल्मीकि मन्दिर के पास, रोपड़ जि० अम्बाला
२३-९-६९ को	रोपड़ से विदाई
२४-९-६९ से ११-१०-६९ तक	यह प्रोग्राम अनिश्चित है। संभवतः आश्रम में निवास करेंगे अथवा प्रोग्राम भी दिया जा सकता है। पत्र-व्यवहार द्वारा ज्ञात करें

अपने आप को देखो

तुम बड़े अध्यवसायी हो। तुमने हिमालय के हिमाच्छादित शिखर देखे हैं। जंगलों और नदियों के अद्भुत दृश्य देखे हैं। परन्तु अपने आपको यदि तुमने नहीं देखा तो कुछ भी नहीं देखा।

तुम निश्चय हो सब से पहले अपने आपको देखो। पीछे परिवार और पड़ौस को देखो और तब देश जाति और मानव समाज को देखो। वस्तुतः यह सब 'मैं' का ही व्यापक रूप है।

तुम अपने लिए 'मैं' के लिए ही सब कुछ कर रहे होंगे परन्तु आज तक तुमने इस 'मैं' को नहीं देखा। क्या यह तुम्हारी दुर्बलता नहीं? जिस दिन तुम इस 'मैं' को देख लोगे तब तुम्हारा 'मैं' अनन्त 'मैं' का अंश प्रतीत होगा। तुम्हारा प्रत्येक व्यवहार मैं परिवर्तित हो जायगा। आज तुम प्रत्येक कार्य के पीछे अपने स्वार्थ को प्रधानता दे रहे हो तब यह स्थिति न रहेगी।

तुम यह सोचते हो कि बिना आंख के तुम क्या देखोगे? जरा अभ्यास करो। बाहर ब्रह्माण्ड में जो कुछ है उतना और उससे अधिक तुम्हारे पिण्ड में है अपनी इस पूर्णता पर विश्वास करके निश्चय करो कि तुम अपने को देखोगे। अपना आत्म-निरीक्षण करोगे।

तुम अपनी इन छोटी सी आंखों के बल पर और न कुछ अनुभव की दुहाई देकर अपने अन्दर — अन्तर्मुख होकर देखने की बात पर विश्वास नहीं कर रहे।

शान्त मन होकर जरा इतना सोचो तो — तुम्हारी आंखें कितनी दूर देख सकती हैं? दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से भी तुम कितनी दूरी तक देख सकोगे?

यदि तुम यथार्थ और सत्य का दर्शन करना चाहते हो तो अन्दर के संसार को देखो - इसी के देखने से तुम महान पुरुष के दर्शन पा सकोगे।

यदि मनुष्य अपने आप को देखे और यह समझ कि वह स्वयं क्या है तो उसका जीवन ही बदल जायगा।

[कुमारी भारती]

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस बसई कस्टी ताजगंज आगरा—१